ISSN : 2582-6360

विश्व दीप दिव्य संदेश

मासिक शोध पत्रिका

वर्ष 25 | अंक 09 | विक्रम संवत् 2077-78 सितम्बर 2021 | पृष्ठ 34

संरक्षक : विश्वगुरु महामण्डलेश्वर परमहंस श्री स्वामी महेश्वरानन्दपुरीजी

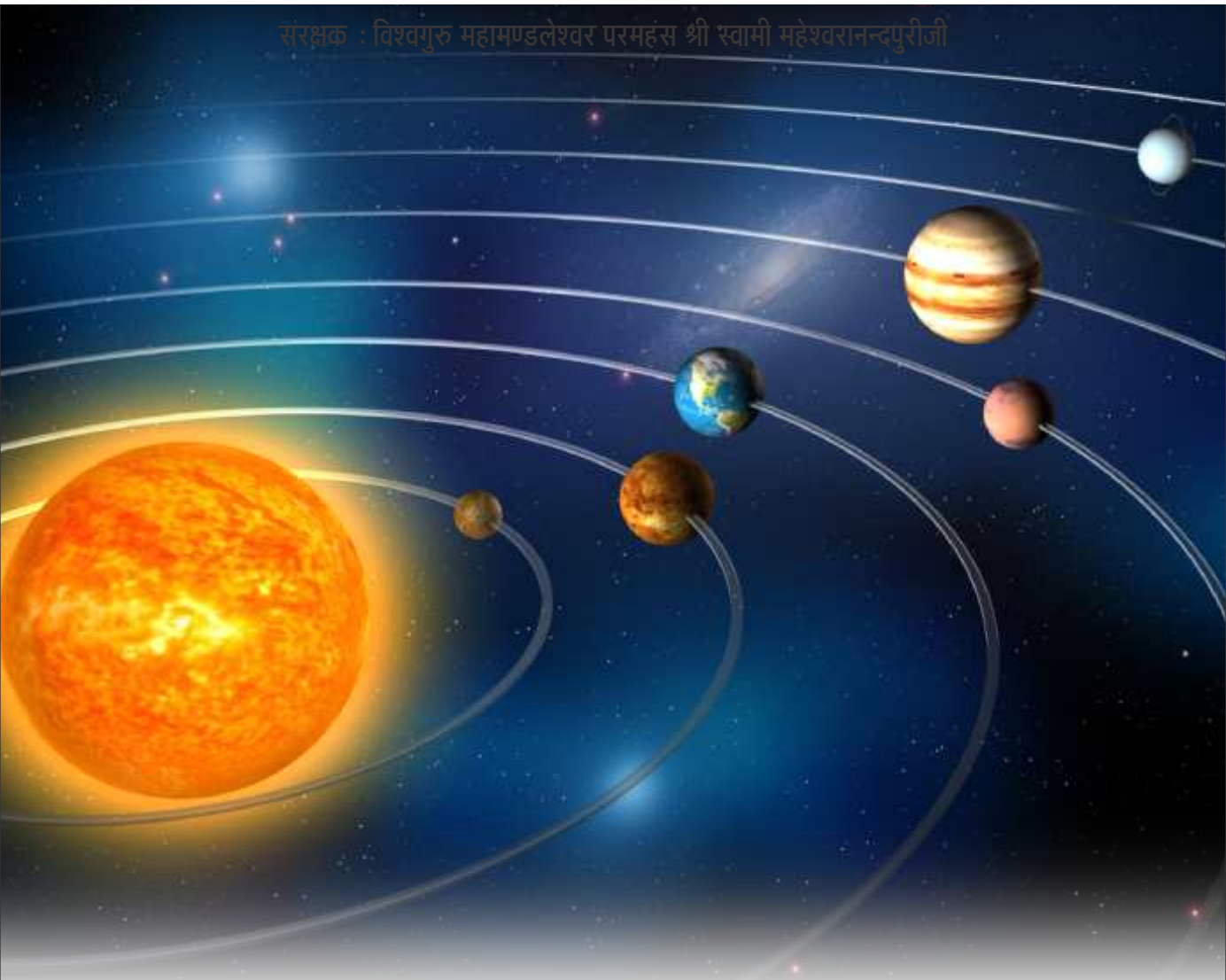

प्रकाशक

विश्वगुरुदीप आश्रम शोध संस्थान

(जगद्गुरु रामानन्दाचार्य संस्कृत विश्वविद्यालय से सम्बद्ध)

कीर्ति नगर, श्याम नगर, सोढाला, जयपुर

Narayan

ISSN : 2582-6360

विश्व दीप दिव्य संदेश

मासिक शोध पत्रिका

वर्ष 25 | अंक 09 |विक्रम संवत् 2077-78 सितम्बर 2021 | पृष्ठ 34

परामर्शदाता
देवर्षि कलानाथ शास्त्री
पण्डित अनन्त शर्मा
डॉ. नारायणशास्त्री काङ्कर
प्रो. कैलाश चतुर्वेदी
डॉ. शीला डागा
प्रो. (डॉ.) गणेशीलाल सुथार

प्रधान सम्पादक
सोहन लाल गर्ग

सम्पादक
डॉ. सुरेन्द्र कुमार शर्मा

सह-सम्पादक
डॉ. रामदेव साहू
डॉ. रघुवीर प्रसाद शर्मा
तिबोर कोकेनी
श्रीमती अन्या वुकादिन

सहयोग
नवीन जोशी

- प्रमुख संरक्षक -
परम महासिद्ध अवतार श्री अलखपुरी जी
परम योगेश्वर स्वामी श्री देवपुरी जी

- प्रेरणास्त्रोत -
भगवान् श्री दीपनारायण महाप्रभुजी

- संस्थापक -
परमहंस स्वामी श्री माधवानन्द जी

- संरक्षक -
विश्वगुरु महामण्डलेश्वर परमहंस
श्री स्वामी महेश्वरानन्दपुरीजी

- प्रबन्ध सम्पादक -
महामण्डलेश्वर स्वामी ज्ञानेश्वर पुरी

प्रकाशक

विश्वगुरुदीप आश्रम शोध संस्थान
(जगद्गुरु रामानन्दाचार्य संस्कृत विश्वविद्यालय से सम्बद्ध)
कीर्ति नगर, श्याम नगर, सोढाला, जयपुर

Website : vgda.in | **Youtube :** www.youtube.com/c/vishwagurudeepashram | **E-mail :** jaipur@yogaindailylife.org

अनुक्रमणिका

1.	सम्पादकीय		3
2.	सावन की सतरंगी पूनम	देवर्षि कलानाथ शास्त्री	4
3.	राजस्थान के भूले बिसरे स्वतन्त्रता सेनानी	डॉ. रामदेव साहू	8
4.	भारतीय ब्राह्मी लिपि (भ्रान्ति निवारण)	प्रस्तोता डॉ. सुरेन्द्र कुमार शर्मा	11
5.	ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति	डॉ. रामदेव साहू	18
6.	अन्नं वै ब्रह्म	गोपीनाथ पारीक 'गोपेश'	27
7.	राष्ट्रोपनिषत्-प्रस्तावना-शतकम्	डॉ. नारायणशास्त्री काङ्कर	31

विश्वदीप दिव्य संदेश पत्रिका का वार्षिक सदस्यता शुल्क **800/- रूपये**

खाता संख्या : 5013053111

IFS Code : KKBK0003541

मुद्रण : **कन्ट्रोल पी**, जयपुर - मो. : 9549666600

सम्पादकीय

विश्वगुरुदीप आश्रम शोध संस्थान द्वारा प्रकाशित मासिक शोधपत्रिका का वर्ष 2021 का नवम अंक आपके करकमलों में अर्पित करते हुए अत्यधिक हर्ष का अनुभव हो रहा है। भारतीय धर्म-संस्कृति के शोधलेखों का यह संग्रह विद्वानों द्वारा सराहा जा रहा है। विद्वानों द्वारा नियमित भेजे जा रहे शोधलेख हमारा मनोबल बढ़ा रहे हैं व पत्रिका के महत्त्व को भी आलोकित कर रहे हैं। पूर्व अंकों में सभी उच्चस्तरीय विद्वानों के लेख प्रकाशित हुए हैं।

इस अंक में सर्वप्रथम देवर्षि कलानाथ शास्त्री का 'सावन की सतरंगी पूनम' शीर्षक लेख में रक्षाबन्धन एवं श्रावणी पूर्णिमा के सन्दर्भ में प्रचलित लोकमतों की प्रस्तुति भारतीय संस्कृति की दृष्टि से पर्याप्त महत्त्वपूर्ण है। दूसरा लेख 'राजस्थान के भूले बिसरे स्वतन्त्रता सेनानी' भारतीय क्रान्तिकारियों के त्याग बलिदान एवं शौर्य के ऐतिहासिक प्रसंगों को प्रस्तुत करता है, जो ऐतिहासिक महत्त्व का विषय है। तत्पश्चात् डॉ. सुरेन्द्र कुमार शर्मा द्वारा प्रस्तुत 'भारतीय ब्राह्मीलिपि (भ्रान्ति निवारण)' लेख में समीक्षा चक्रवर्त्ती पं. मधुसूदन ओझा द्वारा ब्राह्मी लिपि के वैदिककालीन होने के उन प्रमाणों को प्रस्तुत किया गया है, जो वैदिक वाङ्मय में उपलब्ध होते हैं। भारतीय पुरालिपि विज्ञान के विषय में यह अनुसन्धानात्मक लेख उन सब भ्रान्तियों का निराकरण कर देता है, जिनके आधार पर ब्राह्मी लिपि को बौद्धेतरकालीन या अशोककालीन माना जाता रहा है। इसी क्रम में डॉ. रामदेव साहू द्वारा लिखित 'ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति' लेख में वेदविज्ञान के आधार पर ब्रह्माण्डोत्पत्ति की अठारह अवस्थाओं का आनुक्रमिक प्रस्तुतीकरण किया गया है। वैद्य गोपीनाथ पारीक द्वारा लिखित 'अन्नं वै ब्रह्म' में स्वास्थ्य चेतना के विषय की सरलतम प्रस्तुति हुई है। अन्त में डॉ. नारायणशास्त्री काङ्कर के 'राष्ट्रोपनिषत् प्रस्तावना शतकम्' के कतिपय पद्य प्रकाशित किये गये हैं, जो गुरुशिष्यपरम्परा के गौरव को प्रदर्शित करने के साथ साथ आत्मचिन्तन की प्रेरणा प्रदान करने वाले हैं।

आशा है, सुधी पाठक इन्हें रुचिपूर्वक हृदयंगम करने में अपना उत्साह पूर्ववत् बनाये रखेंगे।

शुभकामनाओं सहित....

सम्पादक

डॉ. सुरेन्द्र कुमार शर्मा

सावन की सतरंगी पूनम

देवर्षि कलानाथ शास्त्री

(राष्ट्रपति सम्मानित), प्रधान सम्पादक ''भारती''संस्कृत मासिक
पीठाचार्य, भाषामीमांसा एवं शास्त्रशोध पीठ - विश्वगुरुदीप आश्रम शोध संस्थान, जयपुर
पूर्व अध्यक्ष - राजस्थान संस्कृत अकादमी
आधुनिक संस्कृत पीठ - जगद्गुरु रामानन्दाचार्य राजस्थान संस्कृत विश्वविद्यालय
पूर्व निदेशक - संस्कृत शिक्षा एवं भाषा विभाग, राजस्थान सरकार
सदस्य - संस्कृत आयोग, भारत सरकार

श्रावण मास की पूर्णिमा उत्तर भारत में रक्षा बन्धन के उत्सव के साथ इतनी जुड़ गई है कि हिन्दी भाषी क्षेत्रों में इसे भाई-बहिन के निश्छल प्रेम का प्रतीक त्यौहार माना जाने लगा है। इसका परिणाम यह हुआ है कि देश के अन्य भागों में इस पूर्णिमा को जिन समारोहों के साथ मनाया जाता है, उससे हिन्दी भाषियों की जान-पहचान बहुत कम रह गई है। वैसे शोध विद्वानों की मान्यता है कि रक्षाबन्धन का वह रूप जिसमें बहिन भाई की कलाई पर राखी बाँधती है, बहुत पुराना नहीं है। पुराणों में इसका उद्गम इन्द्र के हाथ पर इन्द्राणी द्वारा रक्षा के लिए बाँधे गये ताबीज से बताया गया है। धीरे-धीरे पुरोहित द्वारा रक्षा के लिए बाँधे गये अभिमंत्रित ताबीज, सूत्र या पोटली के रूप में रक्षा बन्धन की परम्परा चल गयी। धर्मशास्त्रों में श्रावणी पूर्णिमा को एक वस्त्र में हल्दी और पीले चावल रखकर पुरोहित द्वारा यजमान के हाथ में बाँधने का विधान मिलता है, जिसे रक्षापोटलिका कहा गया है। उत्तर भारत के लोकमानस ने इसे भाई-बहिन के स्नेह के आदान-प्रदान का त्यौहार बना कर एक बहुत बड़ी कमी की पूर्ति कर दी। वर्ष में दो उत्सव भाई-बहिन के स्नेह को समर्पित है, भाईदोज और राखी। परम्परा यह है कि भाईदोज के दिन भाई बहिन के यहाँ जाता है, जबकि राखी के दिन बहिन भाई के यहाँ जाकर राखी बाँधती है। वैसे भी विवाहित कन्याओं के मन की यह बड़ी पुरानी साध रहती है कि बाबुल सावन में भैय्या को भेज कर उन्हें ससुराल से पीहर बुलवा लें, जहाँ वे अपनी सखियों के साथ सावन के झूले झूलें और रिमझिम की फुहारों में अपने घर के परिजनों के साथ भीगें। इसी अवसर को अनूठे स्नेह में भिगो देता है भाई के हाथ में बँधा राखी का वह डोरा, जो श्रावण की पूर्णिमा का मुख्य आकर्षण बन गया है।

श्रावणी-

मध्यकाल में किसी समय शुरू हुई इस परम्परा से पूर्व श्रावण की पूर्णिमा को वेदाध्ययन प्रारम्भ करने की परम्परा थी, जिसे श्रावणी कर्म या उपाकर्म कहा जाता है। यह परम्परा अधिक पुरानी है। वर्षा के दिनों में जब यात्राएँ सम्भव नहीं होती थीं, गुरु-शिष्य तपोवनों में बैठकर चार-साढ़े चार मास तक अध्ययन का सत्र चलाते थे। पुस्तकों और यज्ञ पात्रों को साफ करते थे। इस प्रकार संस्कृत (शुद्धि) करके वेदाध्ययन प्रारम्भ करने को उपाकर्म कहा जाता था। यह श्रावण की पूर्णिमा को शुरू होता था। आज भी उस परम्परा की याद में सनातनी पंण्डित जलाशय पर जाकर स्नान करते हैं, यज्ञोपवीत बदलते हैं और ऋषितर्पण करते हैं। ऋषियों के तर्पण का यह विधान सभी धर्मशास्त्रों में पाया जाता है और सारे देश में प्रचलित है। राजस्थान में ऋषिपूजा को लोक जीवन ने एक नया रूप दे दिया था। प्रत्येक गृहिणी अपने द्वार पर अपने अन्धे माता की सेवा कर उन्हें कावड द्वारा तीर्थ करवाने वाले आदर्श पुत्र श्रवण कुमार की पूजा करती थी। आज भी घर-घर में उसकी याद में उस ऋषि का चित्र गोबर या गेरू से लिखकर उसकी पूजा की जाती है और यह माना जाता है, कि श्रवण कुमार की पूजा करके माता-पिता के उस भक्त के प्रति हमने अपनी श्रद्धा व्यक्त की है। इस दिन चन्द्रमा श्रवण नक्षत्र पर होता है। शायद इसी प्रतीक को लेकर श्रवण की पूजा की यह परम्परा चली हो, क्योंकि ऐसी मान्यता है कि वही श्रवण कुमार श्रवण नक्षत्र बन गया था।

संस्कृत दिवस-

श्रावण की पूर्णिमा को संस्कृत दिवस मनाने की परम्परा भारत सरकार की प्रेरणा से कुछ वर्ष पूर्व ही सातवें दशक में शुरू हुई थी। इस राजकीय आदेश ने इस दिन को हमारी संस्कृति की आदि स्रोत और समस्त भारतीय भाषाओं की जननी संस्कृत को स्मरण करने के पावन शिष्टाचार से जोड़ दिया है। इस दिन सरकारी स्तर पर संस्कृत दिवस समारोह आयोजित किया जाता है। राजस्थान में भी कुछ विद्वानों का सरकारी सम्मान होता है। संस्कृत संस्थाएँ भी इसे अपने अपने ढंग से मनाती है। इस भाषा को समारोह से जोड़ने का यह प्रयास सारे देश में एक दिन सभी वर्गों का ध्यान इस भाषा के महत्त्व की ओर आकर्षित करने का अच्छा साधन बन गया है। लगता है श्रावणी या वेदाध्ययन की पुरानी परम्परा का आधार लेकर ही इस दिन संस्कृत दिवस मनाने की बात सोची गई होगी।

वैसे वर्षा के चार मास 'चातुर्मास्य' के रूप में जैन समाज में भी धार्मिक आयोजनों के केन्द्र रहते हैं और वैष्णव समाज में तथा साधु समाज में भी चातुर्मास्य को एक विशेष प्रकार का महत्व प्राप्त है। वर्षा के दिनों में यात्राएँ न कर एक स्थान पर बैठ कर धर्मोपदेश, स्वाध्याय और सत्संग करने की जैन परम्परा का यह परिणाम स्वाभाविक ही था कि

सावन और भादों में अनेक धार्मिक पर्व और केन्द्रित हो जाएँ। इसके फलस्वरूप जैन समाज में श्रावण पूर्णिमा को मुनियों की पूजा की जाती है और अनेक धार्मिक आयोजन होते हैं। संन्यासियों के प्रत्येक वर्ग में चातुर्मास्य करने की अर्थात् वर्षा के चार मासों में किसी एक स्थान पर रहकर धर्माचरण के अनेक कार्य करने की परम्परा अब तक चल रही है। आषाढ़ मास से कार्तिक मास तक चार मासों में चातुर्मास करने की परम्परा श्रमण संस्कृति में है, जबकि सनातन संस्कृति में **'पक्षो वै मासः'** मान कर चार पखवाड़े का चातुर्मास किया जाता है जो आषाढ़ी पूर्णिमा से शुरू होकर भाद्रपदी इस परम्परा को वैष्णव भक्ति ने एक अनूठे ढंग से ही अपनाया है। प्रत्येक वैष्णव मन्दिर में सावन के झूले सजाए जाते हैं और कृष्ण की मूर्तियों को उनमें सजाया जाता है। सावन में सारे वैष्णव मन्दिरों में फूलों की झांकियाँ,---- तथा अन्य अनेक प्रकार के शृंगार सजाये जाते हैं और दर्शनार्थी भक्तों की रेलमपेल रहती है। उत्तर भारत के अनेक स्थानों में सावन की पूर्णिमा को **'झूलन पूर्णिमा'** के रूप में मनाया जाता है। जयपुर की महिलाएँ सावन के प्रत्येक सोमवार को **'बन सोमवार'** मनाती हैं। इस दिन घर पर खाना नहीं खाया जाता। हरियाली के बीच किसी भी उपवन में एक बार सबके साथ मिल कर भोजन किया जाता है।

नारियल पूर्णिमा –

गुजरात और महाराष्ट्र में यह पूर्णिमा राखी के साथ न जुड़ कर नारियल के साथ जुड़ी हुई है। नारियल या श्रीफल वर्षों से हमारी संस्कृति का प्रतीक रहा है। इसका प्रमुख जन्मस्थान समुद्र का तट है। समुद्र की कृपा से उत्पन्न इस ताजे फल को जो इन दिनों बहुतायत से होता है, इस दिन समुद्र को चढ़ाया जाता है। सावन की पूर्णिमा के दिन समुद्र पूजन का प्राचीन विधान भी मिलता है। इसी का अनुसरण करते हुए समुद्र तट के सारे प्रदेश इसे 'नारेली पूर्णिमा' (नारियल पूनम) के रूप में मनाते हैं और समुद्र तट पर जाकर श्रीफल से उसका पूजन करते हैं। इसी ऋतु में केरल का प्रसिद्ध त्यौहार ओणम भी मनाया जाता है, जिसमें नौका दौड़ होती है और अय्यप्पन का पूजन होता है। यद्यपि केरल का ओणम पूर्णिमा के साथ जुड़ा हुआ नहीं है, किन्तु नारली पूर्णिमा गुजरात और महाराष्ट्र का एक प्रमुख त्यौहार है।

हयग्रीव जयन्ती –

दक्षिण भारत में श्रावण की पूर्णिमा हयग्रीव जयन्ती के रूप में प्रसिद्ध है। विष्णु का यह अवतार उत्तर भारत में तो एक अजूबा लग सकता है, किन्तु भारत के अन्य प्रान्तों में इसकी पूजा बहुत पुरानी है। ज्ञान और वैदुष्य के देवता के रूप में घोड़े के मुँह वाले इस विष्णु के अवतार की कथा वैदिक काल से लेकर पुराण काल तक सदा लोकप्रिय रही है। भागवत में विष्णु के चौबीस अवतारों में इसे स्थान दिया गया है। कहते हैं विष्णु ने एक बार यज्ञपुरुष का रूप धारण

किया और विश्व का सारा ज्ञान और पुण्य लेकर भाग निकले। अन्य देवताओं ने यह देख कर यज्ञपुरुष का सिर कटवा दिया इस पर अश्विनीकुमारों ने एक अश्व का मुख उस पर लगा दिया। इस प्रकार हयग्रीव या हयवदन नामक विष्णु का अवतार हुआ जो विद्याओं और वैदुष्य का देवता बन गया। एक बार जब असुरों ने समस्त वेदों का अपहरण कर लिया था, इसी अवतार ने वेदों का पुनरुद्धार किया था। इस प्रकार की अनेक कथाएँ पुराणों में मिलती हैं। एक कथा यह भी है कि हयग्रीव नाम का एक असुर जिसका मुँह घोड़े का था, विश्व का संहार करने को उद्यत हो गया। उसको यह आशीर्वाद प्राप्त था कि घोड़े के मुँह वाली कोई शक्ति ही उस पर विजय प्राप्त कर सकती है। इस पर विष्णु ने हयग्रीव अवतार धारण कर उसका वध किया। जो भी हो, दक्षिण भारत में विद्वानों के द्वारा इस देवता की उपासना शताब्दियों से चली आ रही है। यह अवतार श्रावण की पूर्णिमा को हुआ था, ऐसी मान्यता है। इसलिए भारत के अनेक भागों में विष्णु के मन्दिरों में इस दिन अनेक आयोजन होते हैं।

हिमालय की गोद में –

सुदूर उत्तर में श्रावण की पूर्णिमा शिव और शक्ति के साथ जुड़ी हुई है। कश्मीर का प्रसिद्ध शिवमन्दिर अमरनाथ यात्रियों के लिए बहुत बड़ा तीर्थस्थान है जहाँ बर्फ से बने हुए स्वयं-भू शिव- लिंग के दर्शन करने बड़ी बीहड़ यात्रा पार कर यात्री लोग पहुंचते हैं। 15-16 हजार फीट की ऊँचाई पर एक दुर्गम पहाड़ी के बीच बने अमरनाथ की यात्रा पार कर यात्रा की सम्पूर्ति का दिन है श्रावणी पूर्णिमा । इस दिन वहाँ मेला लगता है और अमरनाथ की विशेष झाँकी होती है। जाड़ों के दिनों में इस तीर्थ की यात्रा सम्भव नहीं होती। हिमाचल के अनेक प्रान्तों में इस दिन वाराही देवी की मान्यता वैष्णवी देवी के समान ही पहाड़ी अंचलो में बहुत है। इस तांत्रिक देवी का उल्लेख अनेक शाक्त पुराणों में पाया जाता है।

इस सतरंगे देश की सतरंगी संस्कृति जितनी विविधरूपा है उतनी ही व्यापक भी। सावन के विविध पर्वों को इस देश के विभिन्न अंचलों ने अपनी लोकचेतना को सन्तुष्ट करने के लिए जो बहुरंगी रूप दिये हैं, वे सतरंगी संस्कृति की पूरी पहचान कराते हैं। ज्यों-ज्यों उन स्वरूपों की जानकारी हमें मिलती हैं, उनकी विविधता हमें आश्चर्यचकित कर देती है। सावन की सतरंगी पूनम के ये रंग-बिरंगे रूप अपने आप में जितने आकर्षक हैं, उतने ही वन्दनीय भी।

राजस्थान के भूले बिसरे स्वतन्त्रता सेनानी

डॉ. रामदेव साहू
प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष
विश्वगुरुदीप आश्रम शोध संस्थान, जयपुर (राज.)

भारत राष्ट्र की स्वतन्त्रता का इतिहास उन स्वतन्त्रता सेनानियों की शाश्वत स्मृति का इतिहास है, जिन्होंने प्राणपण से अपने जीवन की परवाह न करते हुए राष्ट्रभक्ति के उत्कृष्ट आदर्श का प्रस्तुतीकरण किया। अनेक स्वतन्त्रता सेनानी नींव की ईंट के रूप में शहीद हो गये, जिनकी पूर्णतया जानकारी भी शेष नहीं बची है।

राजस्थान में स्वतन्त्रता आन्दोलन के सत्प्रयासों का प्रारम्भ 28 मई 1857 से माना जाता है। आन्दोलन के प्रथम स्वतन्त्रता सेनानी बीकानेर निवासी अमरचन्द बांठिया थे, जिन्होंने अपनी सम्पूर्ण संचित अपार धनराशि रानी लक्ष्मीबाई एवं ताँतिया टोपेको स्वतन्त्रता संग्राम हेतु दान कर दी थी। आपको 1857 के समर में ही अंग्रेज सरकार द्वारा फॉसी पर लटका दिया गया था।

1857 की क्रान्ति के क्रान्तिकारियों में उल्लेखनीय हैं, टोंक के मीर आलम खाँ सूबेदार शीतल प्रसाद तिलकराम, आउवा के ठाकुर कुशाल सिंह, कोटा के जयदयाल, मेहराब खान, गुलमुहम्मद, अम्बर खाँ मुहम्मद खाँ धौलपुर के रामचन्द्र, हीरालाल इत्यादि। इनमें से कोटा के मेहराब खान एवं गुल मुहम्मद को 15 अक्टूबर 1857 को फॉसी दी गयी थी। राष्ट्र के लिए आत्मबलिदान करने वाले ऐसे सपूतों के प्रति हम सतत श्रद्धावनत हैं। राजस्थान में इस 1857 की क्रान्ति का अन्तिम चरण सीकर में रहा।

किसान आन्दोलनों का प्रारम्भ बिजोलिया से 1897 में प्रारम्भ हुआ। 1941 तक राजस्थान में विविध स्थानों पर किसान आन्दोलनों के माध्यम से क्रान्तिकारी गतिविधियां सक्रिय रहीं। 1913 से साधु सीताराम ने किसानों को संघटित करने एवं संघटन खड़े करने के अतुलनीय प्रयास किये। 14 मई 1925 को नीमूचाणा हत्याकाण्ड ऐसी बर्बर घटना थी, जिसे स्वयं गांधी जी ने जलियाँ वाला बाग की घटना से भी अधिक नृशंस एवं वीभत्स बताया था। उन्होंने इसे डायरिज्म डबल डिस्ट्रिल्ड शब्द से व्यक्त किया था। इसमें लगभग 1500 क्रान्तिकारी गोलियों से भून दिये गये थे।

1920 में महात्मा गाँधी द्वारा सत्याग्रह आन्दोलन प्रारम्भ किया जा चुका था। राजस्थान के शेखावाटी में गाँधी जी के आगमन से इस आन्दोलन का सूत्रपात झुन्झुनूं वाटी से हुआ। यहाँ के क्रान्तिकारियों में पं.ताडकेश्वर शर्मा का नाम उल्लेखनीय है। आपने अजमेर तथा ग्राम नामक हस्तलिखित समाचार पत्र के माध्यम से क्रान्तिकारियों को सूचनायें प्रदान करने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया था। शेखावाटी में 1934 में बोसाणा काण्ड की घटना अत्यन्त निन्दनीय थी। इस काण्ड में पुरुषों पर ही नहीं स्त्रियों पर भी पाशविक अत्याचार किये गये। अंजना देवी चौधरी ने 1939 में सत्याग्रह आन्दोलन का नेतृत्व किया था। सुमित्रा खेतान एवं दुर्गावती देवी शर्मा शेखावाटी की उल्लेखनीय क्रान्तिकारी महिलाएं थीं, जिन्होंने पृथक से महिला सत्याग्राहियों के संघटन खड़े किये थे। दुर्गावती देवी शर्मा जयपुर में 18 मार्च 1939 को गिरफ्तार की गयी थी, तथा उन्हें चार माह तक जयपुर केन्द्रिय कारागार में रखा गया था।

शेखावाटी की महिला क्रान्तिकारियों में रमादेवी जो बिजौलिया किसान आन्दोलन में सक्रिय रहीं तथा 1930 में अजमेर में गिरफ्तारी के बाद केन्द्रीय कारागार में छः माह तक रहीं। 1939 में भी जयपुर में गिरफ्तार की गयीं तथा 4 माह तक जयपुर केन्द्रीय कारागार में रही। 1929 से लेकर 1947 तक आपने सक्रिय क्रान्तिकारी के रूप में भूमिका निभायी।

1931 से राजस्थान में प्रजामण्डलों की स्थापना का कार्य भी स्वतन्त्रता आन्दोलन का एक अत्यन्त उल्लेखनीय पहलू है, जिसे नजरअन्दाज नहीं किया जा सकता। सर्वप्रथम 1931 में जयपुर एवं बूंदी में तत्पश्चात् 1934 में जोधपुर एवं कोटा में, 1936 में बीकानेर में, 1938 में मेवाड़ तथा अलवर में, 1939 में सिरोही एवं करौली में तथा 1944 में डूंगरपुर में प्रजामण्डल बने थे। इनके संस्थापक संचालक एवं अध्यक्ष क्रान्तिकारी ही थे।

जयपुर के समीप बिलौंची ग्रामवासी पं.बद्रीनारायणदोतोलिया का भी स्वतन्त्रता आन्दोलन में पर्याप्त योगदान रहा। आप 17 नवम्बर 1928 को लाहौर में लाला लाजपतराय के साथ सविनय अवज्ञा आन्दोलन में सक्रिय होने के कारण पुलिस द्वारा किये गये लाठीचार्ज में घायल हुए थे तथा लाला लाजपतराय की मृत्यु हो गयी थी। पण्डित जी भारत के स्वतन्त्र होने के बाद 17 अगस्त 1947 को लाहौर से वापस जयपुर लौटे थे। 14 अगस्त को पाकिस्तान की घोषणा के बाद हुए भीषण कत्लेआम में भी आपने अनेक भारतीयों की रक्षा की थी।

1930 में सवाईमाधोपुर में स्वदेशी आन्दोलन के सूत्रधार पण्डित भालचन्द्र शर्मा के योगदान का उल्लेख करना भी यहां प्रासंगिक होगा। आपने कलकत्ता में 1920 में बड़ी संख्या में छात्रों को ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध सत्याग्रह हेतु संघटित किया था तथा उसमें आपको गिरफ्तार भी किया गया था। 1939 में एक मास तक आप मोहनपुरा कारागार में रहे। कारावास से मुक्त होने पर न्यायाधीश ने पुनः चार मास के कारावास से दण्डित किया था।

1939 में सीकर के क्रान्तिकारी वेंकटेश पारीक चिरस्मरणीय हैं जिन्होंने कूदन, गोठडा मोल्यासी एवं बठोठ के जन आन्दोलनों का नेतृत्व किया था तथा स्वदेशी आन्दोलन में भी सक्रिय भूमिका निभायी थी। बाँसवाडा के सत्याग्रहियों में पण्डित दुर्गादत्त त्रिपाठी ने 1920 से स्वतन्त्रता संग्राम के कार्य को अपने हाथ में लिया।

आप क्रान्तिकारियों को गुप्त रूप से शस्त्र भी उपलब्ध कराते थे। आपने रणभेरी नामक पत्रिका का प्रकाशन एवं संपादन भी किया था।

सर्वोदयी नेता हरिभाउ उपाध्याय भी उल्लेखनीय नेतृत्व के धनी थे। आपने नमक आन्दोलन के समय ब्यावर में सत्याग्रहियों का नेतृत्व किया था ब्रिटिश सरकार ने दो वर्ष के कारावास से आपको दण्डित किया था। बीकानेर में वैद्य मघाराम पर 1931 में बीकानेर षडयन्त्र केस के माध्यम से आप पर राजद्रोह का मुकदमा दर्ज किया गया था। दूधवा खारा में आपको गिरफ्तार कर लिया गया, आप भी तीन माह कारावास में रहे।

1942 में भारत छोडो आंदोलन की पृष्ठभूमि में कोटा के पण्डित नयनूराम शर्मा 1920 से ही सक्रिय क्रान्तिकारी रहे। 1923 में डाबी में जनसभा में झण्डागान करने पर पुलिस की गोली से नानक भील का बलिदान हुआ था तथा आपको कोटा राज्य से निष्कासित कर दिया गया था। बाद में बून्दी जिले के निवाणा ग्राम में आपको गिरफ्तार किया गया। हाडौती के उल्लेखनीय क्रान्तिकारी रहे- पण्डित अभिन्न हरि एवं मास्टर बजरंगलाल। मास्टर बजरंगलाल ने नागपुर में बाबा अर्जुन के साथ भारत छोडो आन्दोलन का सफल नेतृत्व किया था। बाबा अर्जुन पुलिस की गोली से मारे गये थे। जयपुर के निकटवर्ती ग्राम खोरा बीसल की निवासी रामप्यारी देवी शर्मा भी 1942 के भारत छोडो आन्दोलन की सक्रिय कार्यकर्ता रही।

लोहागढ़ के क्रान्तिकारी सपूत रमेश स्वामी थे। 1938 में आपने लाहौर में रह कर सिन्ध प्रान्त में जनजागरण का कार्य किया। भारत में सत्याग्रह-आन्दोलन के आप सूत्रधार रहे। 1942 के आन्दोलन में भुसावर में आप गिरफ्तार किये गये। 05 फरवरी 1947 को ब्रिटिश शासन के कुचक्र में आप पुलिस के वाहन से मारे गये। जोधपुर के बालमुकुन्द बिस्सा भी 09 जून 1942 को ब्रिटिश सरकार द्वारा भारत रक्षा कानून के अन्तर्गत गिरफ्तार किये गये थे तथा जेल में ही 19 जून को आपका निधन हो गया था। ऐसे अनेकानेक क्रान्तिकारी रहे, जिन्होंने राजस्थान के स्वतन्त्रता संग्राम में अपने प्राणों की आहुति दे दी। आज आजादी के इस पावन पर्व पर हम उन सभी ज्ञातअज्ञात क्रान्तिकारियों को हृदय से श्रद्धाञ्जिल अर्पित करते हैं।

भारतीय ब्राह्मी लिपि (भ्रान्ति निवारण)

- समीक्षाचक्रवर्ती महामहोपदेशक पण्डित मधुसूदन ओझा

डॉ. सुरेन्द्र कुमार शर्मा
अध्येता पंडित मधुसूदन ओझा साहित्य
संपादक - विश्व गुरु दिव्य संदेश मासिक शोध पत्रिका
पूर्व प्राचार्य श्री दादू आचार्य संस्कृत महाविद्यालय जयपुर

महाभारत के शान्ति पर्व में लिखा है कि आर्यों की सर्वप्रथम लिपि ब्राह्मी लिपि ही थी, जिससे ब्राह्मी भाषा उत्पन्न हुई। इस प्रकार ये चारों वर्ण, जिनकी भाषा ब्राह्मी थी, जो ब्रह्मा द्वारा सर्वप्रथम बनाई गई थी, किन्तु वह लोभ के कारण अज्ञानता को प्राप्त हो गई अथवा लुप्त हो गई। यह ब्राह्मी भाषा संस्कृत भाषा है, इसे कुछ थोड़े से ब्राह्मण लोग ही जानते हैं, सभी लोग नहीं जानते, तथा ब्राह्मी लिपि तो आजकल लिखी ही नहीं जाती है।

(वैदिक मंत्रों के निर्माणकाल में लिपि का सामान्यतः अभाव था, इस मत के खण्डन के लिए श्रुति शब्द के व्यवहार के मौलिक अर्थ का प्रस्तुतीकरण द्रष्टव्य है।)

ऋग्वेदश्रुति-निर्माण के समय कोई लिपि नहीं थी, इसलिए मात्र कण्ठ से उच्चारण किये हुये को कानों से सुने हुए होने के कारण ही वेदों को श्रुति कहा जाता है।

इस प्रकार कुछ पाश्चात्य विद्वान् कहते हैं, जो मात्र कल्पना-प्रिय हैं और भारतीय वैदिक ज्ञान के रहस्य से पूर्णतः अनभिज्ञ हैं।

प्राचीनकाल से ही भारतीय विद्वानों द्वारा यह ''श्रुति' शब्द जिस अर्थ में निर्धारित किया गया है, मैं उस संकेत के संबंध में कहता हूँ।

सत्य धर्मों के ज्ञान में जो हेतु हैं, वे प्रमाण हैं और ये प्रमाण प्रत्यक्ष, अनुमान और शास्त्र तीन प्रकार के हैं।

ज्ञान के विषय में तीन कारण प्रमुख माने गये हैं। वे हैं-दृष्टि, श्रुति और स्मृति अथवा निबन्ध। नेत्रों से देखा गया तथ्य प्रत्यक्ष प्रमाण है और श्रुति तथा स्मृति प्रमाण शास्त्रज्ञान है।

नेत्रों से केवल सत्य ही धारण किया जा सकता है, क्योंकि नेत्र केवल प्रत्यक्ष, दोषरहित और आडम्बर-रहित तथ्य को ही स्वीकार करते हैं। इसलिए यह प्रत्यक्ष प्रमाण ही एक मात्र प्रमुख प्रमाण है, अन्य प्रमाणों को भी इसी प्रमाण की आवश्यकता होती है।

मीमांसा से सिद्ध होता है कि ''प्रत्यक्षद्रष्टा के वचन में किसी अन्य प्रामाणिक वचन की आवश्यकता नहीं होती।'' द्रष्टा का वचन भी श्रुति है। वेद प्रत्यक्ष शास्त्र है अर्थात् प्रत्यक्ष मंत्रद्रष्टा के वचन हैं।

द्रष्टा के वाक्य ही श्रुति (श्रवण योग्य) हैं। इस आधार पर श्रुति के मूल में दृष्टि ही प्रमुख है। द्रष्टा जो कुछ प्रत्यक्ष देखता है, श्रोता उसी प्रत्यक्ष-द्रष्टा के मुख से श्रवण करता है। अतः वह श्रुति-ज्ञान भी मूलतः दृष्ट-ज्ञान ही है।

दृष्टि स्वतः प्रमाण है (वह वस्तुस्थिति को प्रत्यक्ष देखती है), अतः द्रष्टा के वाक्य भी स्वतः प्रमाण हैं, जिसे अन्य किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। द्रष्टा का ज्ञान सर्वप्रथम अथवा मूल ज्ञान होता है, न कि किसी अन्य ज्ञान के आधार पर प्राप्त किया गया ज्ञान होता है।

श्रोता का वाक्य ''स्मृति'' है, इस नियम के आधार पर स्मृति में वक्ता अपने द्वारा दृष्ट ज्ञान को नहीं कहता, अपितु दूसरे के द्वारा कथित वाक्य का अपनी वाणी के द्वारा अनुसरण करता है।

स्मृति केवल अनुमान मात्र है, जिसमें लिङ्ग ज्ञान से ज्ञान प्राप्त होता है, (यथा-धुएँ से पर्वत पर अग्नि का अनुमान होता है) यहाँ, वक्ता स्वयं दृष्ट-ज्ञान से युक्त नहीं है, अपितु आप्त पुरुषों के वचन का श्रवण करने वाला है।

दृष्टि ज्ञान रखने वाले पुरुष के विश्वास पर जो हमारा विश्वास होता है, वह वाक्य परतः प्रमाण है और वाक्यान्तर की अपेक्षा रखता है। ऐसा व्यक्ति जब तक द्रष्टा के वाक्य को प्रधानता से ग्रहण नहीं करता, तब तक वह अपने वाक्य को प्रमाणित नहीं कर सकता।

इस प्रकार शास्त्र दो प्रकार के हैं -स्वतः प्रमाण और परतः प्रमाण। इन दोनों के अतिरिक्त अन्य कोई तीसरा शास्त्र नहीं है।

परतः प्रमाण शास्त्र में जहाँ कोई द्वैविध्य आ जाता है, तो ऐसे विवादग्रस्त स्थान पर तीसरे अनुमान प्रमाण की प्रवृत्ति होती है।

अनुमान प्रमाण से दोनों विरुद्ध वाणियों से पृथक् तात्पर्य निकलता हो, तो उसमें सत्य का ग्रहण किया जाता है, वही निबन्ध समझना चाहिये।

यदि निबन्ध को शास्त्र मानते हैं, तो उसका शास्त्रत्व अनुमान के द्वारा शास्त्र के अनुबन्ध से जाना जाता है। और वह उपचार से (अनुमान) तर्कज्ञान है।

इस प्रकार सम्पूर्ण वाङ्मय अथवा शास्त्र इन्हीं तीन प्रमाणों के आधार पर स्थित है। इन तीनों प्रमाणों के अतिरिक्त यदि कोई प्रमाण है, तो वह अनर्गल प्रलाप (तथ्यहीन कथन) ही होगा।

केवल भारतवर्ष में ही ये तीन प्रमाण उचित माने गये हों, ऐसी बात नहीं है अपितु अन्य समस्त देशों में और समस्त भाषाओं में इनको उचित माना गया है।

किन्तु भारतवर्ष में ही इस विषय पर गहन विचार हुआ है, अनुसन्धान हुआ है इसलिए मात्र प्रतीक रूप से इनके लिए श्रुति, स्मृति इत्यादि शब्द निर्धारित कर दिये गये हैं।

इस प्रकार जो प्राचीन विद्वानों के इन संकेतों अथवा प्रतीकात्मक शब्दों के विषय में कुछ नहीं जानते हैं, वे श्रुति शब्द के भ्रामक अर्थ की कल्पना करके दूसरों को भी भ्रम में डालते हैं।

इस भारतीय विद्या के वास्तविक रहस्यज्ञान को बिना समझे भारतीय शास्त्रों में प्रयुक्त शब्दों का विश्लेषण इसके प्रति घोर अन्याय करना है ।

यह श्रुति शब्द मंत्रसंहिताओं में मंत्र के अर्थ में नहीं बताया गया है, अपितु लिपिकाल में मंत्र और ब्राह्मण दोनों के लिए श्रुति शब्द समान रूप से प्रयुक्त हुआ है ।

श्रवण से यदि श्रुति शब्द निष्पन्न होता, तो ऋग्वेद में भी अवश्य श्रुति शब्द का उल्लेख किया गया होता, परन्तु वहाँ लिपि शब्द के समान इसका उल्लेख नहीं है।

यदि श्रवणपरम्परा से ही श्रुति शब्द निष्पन्न हुआ होता, तो लिपिकाल में विरचित ब्राह्मण ग्रन्थों में तो श्रुति शब्द का प्रयोग कहीं अवश्य होता ।

मंत्रनिर्माणकाल में लिपि की विद्यमानता के लिए पहला वैदिक प्रमाण

कुछ लोगों का कहना है कि यदि वैदिक काल में लिपि रही होती, तो अवश्य ही वेदों में कहीं न कहीं लेखनसामग्री यथा लेखनी, स्याही इत्यादि का भी उल्लेख किया गया होता ।

इस संबंध में हमारा कहना है कि वेदों में कहीं लिपि का कोई प्रसंग नहीं आया, इसलिए इस सामग्री का वहाँ कोई उल्लेख नहीं हुआ। इससे यह तात्पर्य नहीं है कि लेखनसामग्री के उल्लेख न होने के कारण ही वहाँ लिपि का अभाव था ।

ऐसा कहीं भी दिखाई नहीं देता है कि श्रुति शब्द का किसी मंत्र में मंत्रपरक उल्लेख हुआ हो, और यदि मंत्र में श्रुति शब्द को मंत्रपरक मानते हैं, तो यहाँ भी मानना चाहिये ।

अथवा वेदों में लेखन के अर्थ को प्रकट करने वाले शब्दों की विद्यमानता देखी भी गयी है तथा लेखनी शब्द से लिपि की सत्ता का ज्ञान भी स्वतः हो सकता है।

यजुर्वेद संहिता के पन्द्रहवें अध्याय में स्पष्ट लिखा है कि 'क्षुर' अर्थात् लोहनिर्मित लेखनी से प्रकाशमान (पत्रोल्लिखित) छन्द है। (इस प्रकार क्षुर शब्द धातु की लेखनी के लिए प्रयुक्त हुआ है) अतः धातु की लेखनी से लिखना स्पष्ट प्रतीत होता है ।

यजुर्वेद में लिखा है-''अक्षरों का संग्रह वेद है, शब्दसमूह वेद है, वाक्यसमूह वेद है, क्योंकि यजुर्वेद में लिखा है- क्षुर से प्रकाशमान ही छन्द है। (यजु. 15/4)

यजुर्वेद की ही किसी अन्य शाखा में तो इस प्रकार लिखा है - क्षुर (लेखनी) वेद है, भ्रज ही छन्द है। इस प्रकार लेखनी और पत्र के संबंध में पृथक रूप से लिखा है। यहाँ भी अक्षर और पद के साहचर्यवर्णन से स्पष्ट होता है कि प्राचीनकाल में लोह-निर्मित लेखनी को ही 'क्षुर' कहा जाता होगा। इस प्रकार लोह-निर्मित लेखनी से प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में सूक्ष्म खुदाई की विधि से सुई की नोंक के समान सूक्ष्म आकृति के अक्षरों की लिपि की सत्ता की संभावना हो सकती है। ''भ्रज'' शब्द से तात्पर्य पत्र पर लिखी हुई प्रकाशमान वाणी ही है।

जिस प्रकार वर्णों से अक्षरपंक्ति होती है, पदों से पदपंक्ति और वाक्यों का समूह विष्टारपंक्ति है, उसी प्रकार क्षुर से प्रकाशमान तो लिपिकृत ही हो सकता है।

क्षुर निर्मित लेखनी से यदि कुछ लिखा गया तो वह अवश्य ही दिखायी देना चाहिए। वही लिपि है जो मूलतः वाणी है, वही छन्द है तथा उसे ही क्षुरभ्रज नाम से कहा गया है।

सारा वाङ्मय छन्द है। अक्षर, पद और वाक्य के साहचर्य से सम्पूर्ण वाङ्मय ही छन्द है। अक्षर से तात्पर्य लिखने से ही है और कोई अर्थ यहाँ संगत नहीं होता है।

मंत्रनिर्माण-काल में लिपि की सत्ता में द्वितीय वैदिक प्रमाण

वैदिक काल में भी लिपि थी, इसके लिए वेद में ही प्रमाण मिलता है। जैसा कि विद्यासूक्त में बृहस्पति ने वाणी का दर्शन किया है, ऐसा उल्लेख मिलता है।

जैसा कि ऋग्वेद संहिता में लिखा है एक तो वाणी को देखता हुआ भी अज्ञानतावश नहीं देखता है और दूसरा इस वाणी को सुन कर भी नहीं सुनता है। वह वाणी अपने ज्ञानरूप को स्वयं किसी के पास इस प्रकार प्रकट करती है, जैसे पति के सुख के लिए सुन्दर स्त्री अपना सुन्दर रूप पति के सामने स्वयं प्रकट करती है।

उच्चरित वाणी का जिस प्रकार श्रवण होता है, उसी प्रकार ग्रन्थलिखित वाणी का अर्थज्ञान के लिए दर्शन होता है।

आकृति के बिना वाणी का कहीं दर्शन ही नहीं हो सकता। अतः उस काल में वाणी की मूर्तिरूपी लिपि अवश्य ही विद्यमान थी।

लिपि-संकेत को न जानने वाला उसको देख कर भी उसे वाणी के संकेत के रूप में नहीं देख सकता और अर्थसंकेत को न जानने वाला सुनकर भी नहीं सुनता।

मन्त्रनिर्माण काल में लिपि की सत्ता में तृतीय वैदिक प्रमाण

और भी, प्राचीन देवकाल में किसी भी दैवी लिपि की विद्यमानता होने से ही मंत्रनिर्माण करने वालों के आचरण का हमें ज्ञान होता है।

प्राचीन काल में कुत्सनरेश गन्धर्व एक बार दैत्यों द्वारा राज्य छीन जाने पर अत्यन्त विकल हो गया। तब चिन्ताग्रस्त गन्धर्वराज को घोर प्रगाथ ने इस प्रकार कहा।

*घोर प्रगाथ कहते हैं- हे मित्रो! तुम किसी अन्य देव की स्तुति मत करो। किसी दूसरे देव की स्तुति करके दुःखी मत होओ। सोम रस के सवन-याग में बलशाली इन्द्र की एक साथ मिलकर स्तुति करो। इन्द्र के स्तोत्रों को बार-बार बोलो।

जो शत्रुओं की नगरी के दुर्गों का विध्वंसक इन्द्र है, उसके लिए गायत्री छन्द में बनी हुई स्तुति गाओ। जिन स्तुतियों से प्रेरित होकर इन्द्र कण्वपुत्रों के यज्ञ के आसन के पास जावे तथा हाथ में वज्रधारण करके शत्रु के नगरों को तोड़े।

इस प्रकार आदेश प्राप्त कुत्स ने इन्द्र के पास जाकर इन्द्र के मित्र कण्वपुत्रों द्वारा भेजे गये आह्वानार्थ भद्रसूक्त निवेदित कर दिये।

हे इन्द्र ! आओ, हम तुम्हारे उत्साहवर्धक स्तोत्रों का गान करेंगे, जिनके द्वारा यहाँ यश की इच्छा करने वाले अपना कल्याण करना चाहते हैं। इन्द्र के द्वारा प्रदत्त धन निश्चित रूप से कल्याणकारी हैं।

हे इन्द्र ! ये प्रजायें स्तुति करती हैं। अपनी रक्षा के लिए आपको अनेक प्रकार से बुलाती हैं, तब भी प्रतिदिन हमारी स्तुति ही आपकी महिमा को बढ़ाने वाली हो।

हे इन्द्र ! आप आओ और हमें इच्छित धन देकर आनन्दित करो। श्रेष्ठ पेय पदार्थ सोम रस से आप हमारे विशाल हृदयों को परिपूर्ण कर दें।

हे इन्द्र ! आप अपनी रश्मियों के माध्यम से मुझ कण्व की स्तुति को ग्रहण करने के लिये आयें। हे द्युलोकवासी इन्द्र, आप मुझ कण्व को प्रेरित करें तथा आप वापस द्युलोक को लौट जायें।

उस काल में इन कण्वों का स्वर्गगमन नहीं सुना गया। भारत-भूमि पर रहने वाले इन कण्वों द्वारा बिना लिखे यह आह्वान किया जाना सम्भव नहीं था।

इसी कारण इन कण्वों ने अवश्य ही इन सूक्तों को लिख कर कुत्सराज के हाथों इन्द्रागमन के लिए भेजा।

इसलिए हम मानते हैं कि वैदिक मंत्रों के निर्माण-काल से भी पूर्वकाल में कुशल विद्वानों द्वारा उद्भावित लिपि का प्रचार था।

मंत्रनिर्माण-काल में लिपि की विद्यमानता में चतुर्थ प्रमाण

पश्चिम भारत में ऋजाश्व नाम का कोई ऋषि था। जरदस्न नाम का उसका दौहित्र था, वह ब्राह्मणों से द्वेष रखता था।

ब्राह्मणों से द्वेष रखने के कारण उसने ब्राह्मणों से सम्बद्ध ब्राह्मी लिपि को छोड़ कर, विपरीत (उल्टे) क्रम से लिखी जाने वाली खरोष्ठी नाम की लिपि कल्पित की।

ब्राह्मी लिपि बाँई ओर से दाहिनी ओर लिखी जाती है, जबकि खरोष्ठी लिपि दाहिनी ओर से बांई ओर लिखी गई। यह लिपि शाकद्वीप तथा अन्य देशों में प्रचलित हुई।

इस खरोष्ठी लिपि के विकार से अनेक लिपियाँ उत्पन्न हुईं। जरदस्न के अनुयायी लोगों का आचरण लिपि के समान ही विपरीत था। अतः विपरीत आचरण के कारण वे लोग ''मग'' कहलाये।

शाकद्वीप के रहने वाले मग जाति के लोग यहाँ के पणियों के साथ भारतवर्ष आये और ''कीकट देश'' में निवास करने लगे। इसीलिए वह स्थान ''मगध'' कहलाया।

उन्हीं मग जाति के लोगों के साहचर्य से मगध में भी खरोष्ठी लिपि व्यवहार में आने लगी। वहाँ पहले से ब्राह्मी लिपि चलती थी। इस प्रकार वहाँ दोनों प्रकार की लिपि का प्रचार हुआ ।

ब्राह्मी तथा खरोष्ठी दोनों ही लिपियों में अनेक प्रकार की परस्पर विकृतियाँ आ गयीं। ब्राह्मी लिपि भी विकारस्वरूप दाहिनी ओर से बांई ओर तथा खरोष्ठी भी बांई ओर से दाहिनी ओर लिखी जाने लगी ।

प्राचीनकाल में मगध के पाटलिपुत्र नगर में अशोक सम्राट् हुए, जिन्होंने ब्राह्मी और खरोष्ठी दोनों ही लिपियों का अपने राज्य में प्रचलन कराया ।

इस प्रकार बाँई ओर से चलने वाली तथा दाहिनी ओर से चलने वाली दोनों ही लिपियाँ लोगों में आज तक प्रायः सभी स्थानों पर देखी जाती हैं ।

बाँई ओर चलने वाली लिपि का जन्मदाता जरदस्त्र था, ब्राह्मी लिपि के विरोध से इसने इस लिपि में विपरीत क्रम प्रारम्भ किया ।

इस प्रकार स्पष्ट रूप से प्रतीत होता है, कि जरदस्त्र के जन्म से पूर्व प्राचीन काल से ही सर्वत्र ब्राह्मी लिपि प्रचलित थी ।

मन्त्रनिर्माणकाल में लिपि की सत्ता में पाँचवाँ प्रमाण

इन वेदों की रचना सभ्यता से परिपूर्ण एवं परिपक्वावस्था में हुई थी। वेदों की वैज्ञानिकता से वेदों के काल की सभ्यता के मूल का स्पष्टीकरण होता है ।

वेदों में वर्णित राजा और प्रजा के विभाग, सामाजिकता, धर्म, नीति तथा कार्य-अकार्य विभाग से उस काल की सभ्यता के चिह्न स्पष्ट दिखाई देते हैं ।

लाखों वर्ष पहले अनादि काल में अनेक शास्त्रों के निर्माण के पश्चात् ही इन वेदों का अवतरण हुआ ।

वेदों में अनेक बार वेदों से पूर्वकाल के साध्य देव, पूर्ववैदिक धर्म, पूर्वजों की गाथाएँ, पूर्व वैदिक काल के आख्यान इत्यादि का वर्णन मिलता है ।

इसलिए इन वेदग्रन्थों से भी प्राचीन काल में हुई उन्नति और अवनति के पर्याय विचारों की धारा लोक में जानी जाती है।

इससे स्पष्ट है कि वेदों के पहले भी अनेक प्रकार की विधायें तथा अनेक प्रकार की भाषायें थीं, जो अनेक लिपियों से उत्पन्न हुई होगी और लुप्त हो गई, ऐसा सम्भव है ।

प्रकृतिक्रम को न जानने वाले और छः हजार वर्ष मात्र के समय को देखने वाले लोग काल-क्रम से विलुप्त हुए अर्थो को उपलब्ध न होने से जानते नहीं हैं ।

यह नितान्त सत्य है कि जितना भी वाङ्मय आज उपलब्ध है, उनमें सर्वाधिक प्राचीन साहित्य वेद ही है ।

इसलिए हम कहते हैं, कि यदि वैदिक काल से पूर्व भी भाषा, लिपि और विद्या प्रचलित थी, तो अवश्य ही वेदों के समय में भी यह विद्यमान थी।

मन्त्रनिर्माणकाल में लिपि की सत्ता में छठा प्रमाण

निरुक्त में महर्षि यास्क ने भी कहा है - ''प्राचीन धर्मों को देख कर ही ऋषियों ने प्रवचन किया है। मंत्रग्रहण में समर्थ उन ऋषियों ने सुन कर ही इस ग्रन्थ की रचना की है।

बिल्म विभिन्न खण्ड का होता है। इस बिल्म को ग्रहण करने के लिए इस ग्रन्थ की रचना की गयी है। अतः लिपि के बिना बिल्म के विभिन्न खण्डों को समझना संभव नहीं है ।

मन्त्रनिर्माण काल में लिपि की सत्ता में सातवाँ प्रमाण

कृष्ण द्वैपायन वेदव्यास ने हिमालय के बदरीवन में निवास करते हुए मंत्रों का संग्रह करके वेदों का विभाजन करते हुए संहिताओं की रचना की ।

लिपि के बिना एक ही व्यक्ति के द्वारा उन मंत्रों का संकलन और अनेक संहिताओं की रचना करना संभव नहीं हो सकता ।

मन्त्रनिर्माण काल में लिपि की सत्ता में आठवाँ प्रमाण

दुस्साहसी, अदूरदर्शी तथा विचार-शक्ति से हीन लोग मगधराज अशोक के काल से पहले लिपि की सत्ता ही नहीं मानते हैं । कष्ट की बात है कि मगधराज अशोक मात्र बाईस सौ वर्ष पूर्व हुए, जबकि भगवान् राम पांच हजार वर्ष से भी पहले हुए थे । भगवान् राम के समय भी लिपि थी, क्योंकि उस काल में भी भक्त हनुमान् ने जानकी को रामनामांकित अंगूठी दिखाई थी ।

वाल्मीकि रामायण में लिखा है - हे महाभागे ! मैं प्रज्ञासम्पन्न भगवान् श्री राम का दूत वानर हूँ। हे देवी ! यह राम का नाम लिखी अंगूठी देखो ।

वे अदूरदर्शी लोग धन्य हैं, जो चीनी परिव्राजक इत्सिंग के वचनों को तो प्रामाणिक मानते हैं, परन्तु भारतीय विद्वानों और भारतीय शास्त्रों को प्रमाण नहीं कहते ।

मंत्रनिर्माण-काल में विद्यमान लिपि का ब्राह्मी लिपि ही होना

इस प्रकार इन अनेक कारणों से स्पष्ट है, कि वेदकाल में लिपि विद्यमान थी। वह लिपि अवश्य ही ब्राह्मी, दैवी अथवा किसी अन्य नाम से प्रचलित थी।

ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति

डॉ. रामदेव साहू
प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष
विश्वगुरुदीप आश्रम शोध संस्थान, जयपुर (राज.)

ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति एक बहुत बड़ा रहस्य है। ब्रह्माण्ड का मूल सृजनकर्त्ता ब्रह्म है जिसे वेदों पुराणों एवं ब्राह्मणः उपनिषद्, आरण्यक आदि सभी ग्रन्थों में 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' कहा गया है। ब्रह्म से लेकर ब्रह्माण्ड के अस्तित्व में आने तक 18 अवस्थाएँ होती हैं। इसका मुख्य प्रमाण हमारा पुराण वाङ्मय है, जहाँ ब्रह्म को प्रथम पुराण के रूप में तथा ब्रह्माण्ड को अन्तिम पुराण के रूप में स्थान दिया गया है। ये अठारह पुराण ब्रह्माण्ड की आविर्भावमूलक 18 अवस्थाओं के ही द्योतक हैं, जिनमें गूढ वेदार्थ के माध्यम से इस वैज्ञानिक विषय को समझाया गया है, किन्तु अल्पज्ञ होने से सामान्य प्राणी उस ज्ञान को ग्रहण नहीं कर पाता, तथापि भगवान् वेद ने इस विषय के जो संकेत किये हैं, उनसे इस रहस्य का पटाक्षेप भी हो जाता है। अस्तु यहाँ क्रमशः उन अवस्थाओं को दर्शाया जा रहा है, जिनसे हमारे ब्रह्माण्ड का आविर्भाव सम्भव होता हैः-

(1) स्वयम्भूमण्डल

ब्रह्माण्ड विद्यमान नहीं रहता उस अवस्था का नाम महाप्रलय है। इस अवस्था में ब्रह्म भी अणीयान् परिमाण वाला हो जाता है। इस रूप में स्वयं अपनी सत्ता का द्योतक होने से वह अणीयान् ब्रह्म स्वयम्भू कहा जाता है। यह स्वयम्भू अणीयान् ब्रह्म अपनी अन्तःप्रकृति से आवृत्त होता है तथा वह अन्तःप्रकृति भी इस स्वयंभू ब्रह्म की भाँति ही उस समय अव्यक्त अवस्था में होती है, जिसे मूल प्रकृति भी कहा गया है। ब्रह्म की इस अव्यक्त अन्तः प्रकृति का स्वरूप मण्डलाकार होता है, अतः अव्यक्त अन्तः प्रकृतियुक्त उस अणीयान् ब्रह्म का जो क्षेत्र है, वह स्वयम्भूमण्डल कहलाता है। इसे ही सत्यलोक के नाम से कहा गया है। स्वयम्भूमण्डल में विद्यमान् अणीयान् ब्रह्म का परिमाण एक परमाणु के 960 वें भाग के बराबर होता है, अतः उसका प्रत्यक्षादि प्रमाणों से अनुभव नहीं किया जा सकता, न ही किसी भी प्रकार के यन्त्रों से देखा जा सकता है। इस स्वयम्भूमण्डल में विद्यमान अणीयान् ब्रह्म से ही सुविस्तृत ब्रह्माण्ड का आविर्भाव होता है।

(2) चिन्मण्डल का आविर्भाव

स्वयम्भू अणीयान् ब्रह्म एक मात्र सत् होने से अपनी सत्ता को बनाये रखता है। उसकी अन्तःप्रकृति को ही चित् कहा गया है। चित् ही इस स्वयम्भू अणीयान् ब्रह्म की वह शक्ति है, जिससे वह स्वयं शक्तिसहित व्यक्त हो जाता

है। यह चित् वृत्तिमय होता है, अतः जैसे जल में स्वतः लहरों का आविर्भाव-तिरोभाव होता रहता है, ठीक वैसे ही ब्रह्म की उस चित् संज्ञक अन्तः प्रकृति में वृत्तियों का आविर्भाव-तिरोभाव होता रहता है। इससे स्पन्द की उत्पत्ति होती है अतः जैसे हमारा हृदय धड़कता है अथवा हमारी नाड़ी धड़कती है वैसे ही वह अणीयान् ब्रह्म अन्तःप्रकृतिवश स्पन्द का आभास करने लगता है, इससे स्वयम्भूमण्डल के भीतर ही एक अन्य मण्डल का निर्माण हो जाता है, जिसे चिन्मण्डल कहा गया है।

ब्रह्म के पश्चात् यह द्वितीय अवस्था है। इसे ही महत् या बुद्धि भी कहा गया है। महत् का आशय यह है कि अणीयान् ब्रह्म इस अवस्था से अणुपरिमाण को त्याग कर महत् परिमाण की ओर अग्रसर होता है। क्योंकि चिन्मण्डल के आविर्भाव होते ही स्वयंभूमण्डल का परिमाण बढ़ जाता है। चिन्मण्डल वाक् के सूक्ष्म परमाणुओं का संघात है, जिसमें स्पन्द की ध्वनि का आभास होने लगता है। इसे ही नाद ब्रह्म भी कहा गया है। अनहद नाद के रूप में योगीजन भी इसका अनुभव अपने पिण्ड (शरीर) में करते हैं।

(3) वैद्युत् मण्डल का आविर्भाव

चिन्मण्डल में विद्यमान् वाक् के सूक्ष्म परमाणुओं में स्वयंभू अणीयान् ब्रह्म के संसर्ग से कुछ परमाणु धनात्मक आवेश को प्राप्त करते हैं तथा उसकी अन्तः प्रकृतिस्वरूपा चित् शक्ति के संसर्ग से कुछ परमाणु ऋणात्मक आवेश को प्राप्त कर लेते हैं, अतः उनमें परस्पर विरोध की स्थिति उत्पन्न होती है। धीरे धीरे वाक् के उन धनात्मक एवं ऋणात्मक सूक्ष्म परमाणुओं में संघर्ष होता है तथा उनके आपस में टकराने से विद्युत् उत्पन्न होती है, जो अग्नि के सूक्ष्म परमाणुओं को उत्पन्न करती है। तत्पश्चात् वे अग्नि के सूक्ष्म परमाणु भी अपना आयतन बनाने लगते हैं और इससे उस चिन्मण्डल के अन्तर्गत ही एक और नये मण्डल का आविर्भाव हो जाता है, जिसे वैद्युत् मण्डल कहा जाता है।

इस वैद्युत् मण्डल का ही अपर नाम तपोलोक है। इसे अग्निलोक भी कहा जाता है। इस अवस्था में अणीयान् ब्रह्म अग्निमय स्वरूप में परिणत हो जाता है, जिसे प्रजापति अथवा ब्रह्मा नाम से भी कहा गया है। इसी वैद्युत् मण्डल में अग्नि के सूक्ष्म परमाणुओं के संश्लेष से वही ब्रह्म जो प्रजापति या ब्रह्मा के रूप में परिणत हुआ था, अन्ततः सविता के रूप में परिणत हो जाता है। यह सविता हमारे दृश्यमान सूर्य की भाँति ही स्व-स्वरूप में परिणत हो जाता है। यही ब्रह्म का व्यक्त स्वरूप है, इसे ही अक्षर ब्रह्म कहा गया है, क्योंकि सृष्टि की प्रलयावस्था में भी यह नष्ट नहीं होता।

(4) वारुणमण्डल का आविर्भाव

वैद्युत्मण्डल में विद्यमान आग्नेय परमाणुओं से अस्तित्व को प्राप्त हुए ब्रह्म सविता के ताप से उष्मा प्रकाश

एवं रश्मि का आविर्भाव होता है। इन्हें ही वेद में क्रमशः आयुः ज्योतिः एवं गौ कहा गया है। उष्मा की अधिक वृद्धि से जलीय परमाणु अस्तित्व को प्राप्त करते हैं। जैसे अधिक ताप होने पर हमाने शरीर में पसीने का आविर्भाव होता है वैसे ही सविता के ताप से इन जलीय परमाणुओं का आविर्भाव होता है। इसके पश्चात् जैसे जैसे वे जलीय परमाणु वृद्धि को प्राप्त करते हैं, तो वे भी अपना आयतन बनाने लगते हैं, जिसके परिणामस्वरूप वैद्युत्मण्डल के अन्तर्गत ही एक और नये मण्डल का आविर्भाव हो जाता है, जिसे वारुणमण्डल कहा जाता है।

इस वारुणमण्डल का ही अपर नाम वरुणलोक या जनलोक है, क्योंकि इस वारुणमण्डल के आविर्भाव के पश्चात् ब्रह्म की चित् शक्ति में जननक्षमता उत्पन्न हो जाती है तथा ब्रह्म के सत्त्वगुणातिरिक्त रजस् एवं तमस् गुणों का भी आविर्भाव हो जाता है तथा मूलप्रकृति के रूप में वह चित् शक्ति भी अपने अस्तित्व को प्राप्त कर लेती है। अर्थात् त्रिगुणात्मिका हो जाती है। उसके संश्लेष से सविता के रूप में विद्यमान ब्रह्म में भी आकर्षण शक्ति उत्पन्न हो जाती है। परिणामतः वह सविता अपनी रश्मियों से चिन्मण्डल एवं वैद्युत् मण्डल के परमाण्वीय सूक्ष्मांशों का तथा अपने अन्तःस्थ परमाण्वीय सूक्ष्मांशों का आदान-प्रदान करने लगता है। चूँकि त्रिगुणात्मिका होने पर भी मूल प्रकृति का सम्बन्ध अविखण्डित रूप में स्वयम्भूमण्डल, चिन्मण्डल एवं वैद्युत्मण्डल से बना रहता है, अतः उसे ही अदिति (अर्थात् अविखण्डनीय सम्बन्ध वाली) कहा गया है।

वारुणमण्डल में विद्यमान् जलीय परमाणुओं में कुछ परमाणु तमस् से ग्रसित हो जाते हैं, अतः वे मादकता को प्राप्त कर लेते हैं, उन्हें ही 'कश्य' कहा जाता है। सविता सत्त्वाधिक्य के कारण उन पर अपनी रश्मियों से आघात करता है तथा उन्हें सोख लेता है। उनका पान करने के कारण सविता का ही अपर नाम कश्यप है।

(5) सोममण्डल का आविर्भाव

जब सविता वैद्युत् मण्डल से धनात्मक आवेश वाले सूक्ष्म आग्नेय परमाणुओं को आकृष्ट करता है, और उनका संयोग जैसे ही सत्त्वप्रधान सूक्ष्म जलीय परमाणुओं से होता है, तो वे अमृताग्नि के रूप में परिणत हो जाते हैं। यह अमृताग्नि ही सोम है, जिसका सूर्यरश्मियाँ निरन्तर पान करती रहती हैं और शाश्वत जीवनी शक्ति को प्राप्त करने में समर्थ होती हैं। इस अमृताग्नि ने भी वारुणमण्डल के अन्तर्गत अपना आयतन बनाना आरम्भ किया, जिसके परिणामस्वरूप एक नये मण्डल का निर्माण हुआ जिसे सोममण्डल कहते हैं। अमृताग्नि का ही अपर नाम चन्द्रा है, तथा अमृताग्नि की सूक्ष्म रश्मियों के संघात से चन्द्रमा का आविर्भाव भी इसी मण्डल में हुआ था, अतः इसे चन्द्रलोक भी कहा जाता है।

सविता एवं चन्द्रमा के तेजोमय प्रकाश से आप्लावित होने के कारण इसे ही महर्लोक भी कहा जाता है, क्योंकि यहाँ तक तमस् की अल्पता रहती है तथा उसे सविता द्वारा ग्रहण कर लिये जाने के कारण सदैव प्रकाश (मह

अथवा तेज) ही विद्यमान रहता है, जो इसकी सबसे बड़ी विशेषता है। सृष्टि (विश्व) की उत्पत्ति के निमित्त सविता की रश्मियों के रूप में विद्यमान देवगण यहीं प्राकृत यज्ञ का प्रारम्भ करते हैं। सोम द्वारा होने वाले स्नेहन के परिणामस्वरूप अध्यात्म अधिभूत एवं अधिदैवत अग्नि का संगतिकरण प्रारम्भ होता है, यही यज्ञ का प्रथम सोपान है। इसमें सोम पुरोडाश रूप हवि पदार्थ होता है तथा अमृताग्नि ही अध्यात्म अधिभूत एवं अधिदैवत नामक तीन रूपों में परिणत हो जाता है। सविता की रश्मियाँ इनकी संगति कर सोमरूपी संश्लेषण द्रव्य को ग्रहण करती हैं। इस प्राकृत यज्ञ का परिणाम ही नाक (स्वर्लोक) है, जो महर्लोक से नीचे संस्थित है।

(6) भास्करमण्डल का आविर्भाव

जब सविता वैद्युत् मण्डल से ऋणात्मक आवेश वाले सूक्ष्म आग्नेय परमाणुओं को आकृष्ट करता है, तब उनका संयोग जैसे ही रजस् से प्रभावित सूक्ष्म जलीय परमाणुओं से होता है, तो वे मर्त्याग्नि के रूप में परिणत हो जाते हैं, यह मर्त्याग्नि ही वागग्नि भी कही जाती है, क्योंकि इसे प्राप्त कर अव्यक्त वाक् भी व्यक्त होने लगती है। इसी मर्त्याग्नि या वागग्नि के सूक्ष्म परमाणु जब अपना आयतन बनाने लगते हैं, तो सोममण्डल के भीतर ही एक नये मण्डल का अविर्भाव हो जाता है, जिसे भास्करमण्डल कहते हैं।

यह मण्डल भी सोममण्डल की भाँति ही सदैव प्रभामय रहता है। नाक (स्वर्लोक) में विद्यमान सविता की रश्मियाँ जब इस मर्त्याग्नि या वागग्नि को ग्रहण करती हैं, तो उनमें ध्वनित होने की शक्ति आ जाती है, जिसके परिणामस्वरूप ओंकारात्मक वेद का अविर्भाव होता है। भास्करमण्डल में उत्पन्न होने वाली यह वेदध्वनि ही आद्य ध्वनि है। इसमें वाक् का स्वरूप अग्नि से पृथक्करण के परिणामस्वरूप तीस रूपों में विभक्त हो जाता है, अतः इसे त्रिंशद्धामा भी कहा गया है। इस त्रिंशदधामा वाक् से व्यक्त वेद का श्रवण ही कालान्तर में ऋषियों का होता है। यह आश्चर्य का विषय नहीं है, क्योंकि ऋषि भी आग्नेयप्राण के रूप में विद्यमान होने से वेदवाक् को धारण करने में सर्वाधिक समर्थ होते हैं। ध्वनि या वाक् के शब्दरूप में व्यक्त होने से इसे ही आकाशमण्डल भी कहते हैं।

(7) भृगुमण्डल का अविर्भाव

भास्करमण्डल में आविर्भूत होने वाली ध्वनिमयी रश्मियों में सविता के आकर्षण के परिणामस्वरूप तथा सविता की रश्मियों के आकर्षण क्षेत्र की परिधि से बाहर हो जाने के कारण जो सूक्ष्म तरङ्गें उत्पन्न होती हैं, उन सूक्ष्म तरङ्गों के विस्तार के साथ ही सूक्ष्म वायवीय कणों का आविर्भाव होता है। ध्वनि का आधायक होने से एवं गतिशील रहने के कारण ये तरङ्गें भी भास्करमण्डल के अन्तर्गत ही अपना मण्डल बना लेती हैं, जिसे भृगुमण्डल कहा गया है। इसका ही दूसरा नाम वायुलोक या वायुमण्डल भी है। वायु के कारण इन तरङ्ग में भार होता है और ये नीचे भी गमन

करने में समर्थ होती है। इनके महत्वपूर्ण कार्य हैंः- गुरुत्व बल का नियन्त्रण करना, विद्युत् बल का प्रतिनिधित्व करना, घर्षण बल के द्वारा अपनी रक्षा करना, अपने मण्डल में प्रवेश करने वाली रश्मियों को एक सुनिश्चित गति प्रदान करना अर्थात् उन्हें कालचक्र एवं कर्म चक्र में आबद्ध कर देना।

(8) भूमण्डल का आविर्भाव

भृगुमण्डलीय तरङ्गों में धीरे धीरे गुरुत्व बल का आविर्भाव होता है अतः वे भास्कर मण्डल की कतिपय रश्मियों को अपनी ओर आकृष्ट करने लगती हैं। जब तरंगों से इन रश्मियों का संयोग होता है, तो तरंगों के घर्षण बल से तथा रश्मियों के विखण्डन से सूक्ष्मातिसूक्ष्म रजः कणों का आविर्भाव होता है। ये रजः कण उन तरङ्गों से ध्वनि को तो ग्रहण नहीं करते, किन्तु वायु को ग्रहण लेते हैं, जिसमें अव्यक्त रूप से ध्वनि विद्यमान होती है। वायवीय परिवेश में विद्यमान ये रजःकण भी जब अपना आयतन पृथक् रूप से बना लेते हैं, तो उसे भूमण्डल कहा जाता है। यह भूमण्डल भृगुमण्डल के भीतर ही अवस्थित होता है। इसे पृथ्वी नहीं समझना चाहिए, यह तो ब्रह्माण्ड के मध्य में मण्डलाकृति पर्त्त के रूप में अवस्थित हो जाता है। इस भूमण्डल के भीतर का जो शून्य स्थान होता है, उसमें ही कालान्तर में द्यावापृथिवी (आकाश एवं पृथ्वी) उत्पन्न होते हैं। पूर्व में विखण्डित रश्मियों की अग्नि इन रजःकणों में विद्यमान होती है, जो कालान्तर में विकृत होकर उत्सर्जित होती है और जिसके परिणामस्वरूप चुम्बकीय बल उत्पन्न होता है, जिसमें ये रजः कण उस चुम्बकीय बल को प्राप्त कर पर्याप्त सुदृढ हो जाते हैं, अतः ब्रह्माण्ड के मध्यभाग की इस पर्त्त का भेदन सहज नहीं होता तथा इसी कारण यह पृथ्वी आग्नेयी भी कही जाती है।

(9) द्यौः (आकाश महाभूत) का आविर्भाव

द्यौः महर्लोक से नीचे की ओर आने वाली प्रचिताभ नामक रश्मियों का परिणाम है। जब भूमण्डलीय तरङ्गों में चुम्बकीय बल का तथा भृगुमण्डलीय तरङ्गों में गुरुत्व बल का आधिक्य हो जाता है, तो ये तरङ्गें अपने ऊपर संस्थित भास्करमण्डल से भी ऊपर विद्यमान सोममण्डल की रश्मियों तक को आकृष्ट करने लगती हैं। इन्हें सोममण्डल से प्रचिताभ नामक रश्मियाँ प्राप्त होती है। ये रश्मियाँ जब भूमण्डल में प्रवेश करती हैं, तो वहाँ तमस् को आविर्भूत करने वाली असुर नामक रश्मियों के संसर्ग वश अभास्वर हो जाती हैं। ये अभास्वर प्रचिताभ नामक रश्मियाँ भूमण्डल के ऊर्ध्वभाग में ही अपना आयतन बनाती हैं, जिसे द्यौः कहा जाता है। सूर्य के आविर्भाव के पश्चात् यह द्यौः अपने अभास्वर स्वरूप से मुक्त हो जाता है तथा अपने द्यौः नाम को सार्थक करने लगता है। द्यौः के तीन क्षेत्र हैं - उदन्वती, पीलुमती एवं प्रद्यौः। उदन्वती सुर नामक रश्मियों का आश्रय है, पीलुमती ऋषियों का आश्रय है तथा प्रद्यौ पितरों का आश्रय है।

(10) वायु का आविर्भाव

जिस प्रकार द्यौः के निर्माण में प्रचिताभ नामक रश्मियों की सर्वाधिक भूमिका रहती है, ठीक वैसे ही भूमण्डलीय वायु के निर्माण में अञ्जनाभ नामक रश्मियों की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण होती है। ये रश्मियाँ भी महर्लोक से ही द्यौः के निर्माण के पश्चात् भूमण्डलीय तरङ्गों द्वारा आकृष्ट की जाती है। भृगुमण्डल से मरुतों का भी आकर्षण इन तरङ्गों द्वारा किया जाता है, अतः इनके गति एवं प्रवाह में अत्यन्त प्रबलता हो जाती है। यही कारण है कि सम्पूर्ण द्यौः वायु से आपूरित हो जाता है। भूमण्डलीय वायु में विद्यमान मरुत् नामक रश्मियों के अनेक कार्य हैं, जैसे सूर्य-रश्मियों के साहचर्य से भूमण्डलीय जल का अवशोषण करना, सूर्यादि ग्रहों में गुरुत्व बल को उत्पन्न करना, सजीवों में ध्वनि के अभिव्यक्तिकरण का सामर्थ्य उत्पन्न करना इत्यादि। इसी प्रकार अञ्जनाभ नामक रश्मियों का एक महत्वपूर्ण कार्य है, बाह्यप्रकृति के परिणमन में सहयोग प्रदान करना। मरुत् नामक रश्मियाँ ही द्यौः में विद्यमान पृश्नि नामक रश्मियों के साहचर्य से सोम के पक्वीकरण की क्रिया को सम्पन्न करती हैं।

(11) अग्नि का आविर्भाव

अग्नि का आविर्भाव प्रतर्दन नामक रश्मियों के द्वारा सम्भव होता है। ये रश्मियाँ भी भूमण्डलीय तरंगों द्वारा महर्लोक से ही प्राप्त की जाती हैं। प्रतर्दन नामक रश्मियाँ जब अञ्जनाभ नामक रश्मियों से संघर्ष करती हैं, तो उनके पारस्परिक घर्षण से अग्नि नामक महाभूत का निर्माण होता है। मरुतो के सम्पर्क से अग्नि में दीप्ति उत्पन्न होती है, जिससे उसका पार्थिव स्वरूप दृष्टिगोचर होता है। यह अग्नि तीन मूर्धाओं वाला कहा गया है। अपनी प्रथम मूर्धा से यह सूर्य में स्थित सोम का पक्वीकरण करता है। दूसरी मूर्धा से सूर्य में परमाण्वीय विस्फोट का कार्य करता है। तीसरी मूर्धा से सूर्यरश्मियों में प्रकाश का आधान करता है। द्यौ में विद्यमान अग्नि के तीन स्थान होते हैंः- प्रथम स्थान वायु में, द्वितीय स्थान सूर्य में तथा तृतीय स्थान पर्जन्य में। वायु में वह अग्नि अदृश्य रहता है, सूर्य में उष्मा का कारक होता है तथा पर्जन्य में विद्युत् का उत्पादक होता है।

(12) अप् (महाभूत) का प्रादुर्भाव

भूमण्डलीय अप् का प्रादुर्भाव ऋभु नामक उन रश्मियों से होता है, जो सोममण्डल से द्यौः में प्रवेश करती हैं। भूमण्डलीय तरंगों द्वारा आकृष्ट की गयी ये रश्मियाँ उन मरुतों से सम्पर्क करती हैं, जो पूर्व में इन तरङ्गों के आकर्षण से यहाँ विद्यमान होते हैं। मरुतों के सम्पर्क से इन ऋभु नामक रश्मियों के अन्तस् में स्थित सोम द्रवित होने लगता है। सोम का द्रवित रूप ही जल है, जिसे 'अप्' संज्ञा द्वारा अभिव्यक्त किया गया है। इसी अप् को प्राप्त कर द्यौ का एक भाग उदन्वान् (जलमय) हो जाता है, जिसे उदन्वती द्यौः कहा गया है। इसी अप् को भूमण्डल अपने गर्भ में धारण

कर लेता है जिससे कालान्तर में समुद्रों का आविर्भाव होता है। कालान्तर में पर्जन्य भी इस अप् को ग्रहण करता है तथा सुषुम्ण रश्मियों के संसर्ग से वसिष्ठ प्राण के सूक्ष्म परमाणुओं को पर्जन्यस्थ अप् ग्रहण करता है, जिससे वनस्पति का उत्पादन सम्भव होता है तथा कालान्तर में प्राणियो में उसी (अन्नादि) के भक्षण से वीर्यादि का निर्माण होता है। यही अप् पर्जन्य से वैद्युताग्नि को भी ग्रहण कर लेता है, जो कालान्तर में वाडवाग्नि के रूप में परिवर्तित हो जाती है।

(13) पृथ्वी (महाभूत) का आविर्भाव

भूमण्डल के अधोभाग में जब अप् पर्याप्त मात्रा में एकत्र हो गया, तब वह अप् सूर्यरश्मियों का अभाव होने से तथा वैद्युताग्नि की भी अविद्यमानता के कारण एक मात्र सुषुम्ण रश्मियों के प्रभाव से भूमण्डलीय रजः कणों में पिण्डीभाव को उत्पन्न करने लगा। यद्यपि रजःकणों में अव्यक्त आग्नेय परमाणु विद्यमान थे, तथापि सोम की व्यक्तता केकारण वे निष्प्रभावी थे, अतः रजःकणों द्वारा सुविस्तृत पिण्ड का रूप ग्रहण कर लिया गया, जिसे पृथ्वी कहा गया। पृथ्वी के आविर्भाव के पश्चात् भी द्यौ में अप् का निरन्तर उत्पादन होते रहने से पृथ्वी को भी अप् की प्राप्ति होती रही अतः अप् का आधिक्य हो गया तथा द्यौः के रिक्त स्थान में जहाँ रजःकण नहीं थे, वहाँ केवल अप् का अधिकार हो गया, जिससे पृथ्वी के चारों ओर अप् की ही विद्यमानता सम्भव हुई। अतः अप् एवं पृथ्वी के निर्माण में प्रक्रियागत अन्तर होते हुए भी यह भ्रम होता है, कि पृथ्वी का आविर्भाव समुद्र से हुआ है, जबकि ऐसा नहीं है।

(14) अदिति एवं आदित्यो का आविर्भाव

पञ्च महाभूतों की उत्पत्ति के अनन्तर बाह्यप्रकृति का आविर्भाव होता है, जिसे अदिति कहा गया है। वह अदिति इस कश्यप रूप ब्रह्माण्ड में पहले अव्यक्त रहती है, किन्तु द्यावापृथिवी के आविर्भाव के अनन्तर व्यक्त होने लगती है। उस अदिति के बाह्य रूप में अभिव्यक्त होने पर पंचमहाभूतों की तन्मात्रायें शब्द स्पर्श रूप रस एवं गन्ध भी अभिव्यक्त होने लगते हैं। तन्मात्राओं की अनुभूति उस द्यावापृथिवी के भीतर विद्यमान रश्मियों को होने लगती है, किन्तु प्रकाश के अभाव में अदिति स्वयं अपने को भी पंगु जैसा अनुभव करती है। वह प्रकाश की अपेक्षा से बारह गैसीय द्रव्यों की उत्पत्ति करती है, जो द्वादश आदित्य कहे जाते हैं। इनके नाम हैं इन्द्र, धाता, भग, पूषा, मित्र, वरुण, अर्यमा, पर्जन्य, अर्चि, विवस्वान्, त्वष्टा एवं विष्णु।

(15) वसुओं एवं रुद्रों की उत्पत्ति

पार्थिव अग्नि जो द्यौ में विद्यमान थी उसका पूषा सोम एवं पर्जन्य से सम्पर्क होने पर वसुओं की उत्पत्ति हुई। ये वसु आठों दिशाओं के अधिकारी होते हैं। दिशाओं में पृथक् पृथक् स्थित हो कर उन्होंने द्यौः को अपने द्वारा आच्छादित कर दिया। इसी प्रकार जब द्यौ में विद्यमान पार्थिव वायु, जो मरुत् नामक रश्मियों से युक्त था, का संयोग

पृश्नि (वाक्) धाता, अर्चि एवं विवस्वान् से होता है, तो रुद्रों की उत्पत्ति होती है। रुद्र यद्यपि अनन्त हैं, किन्तु उनमें गणाधिपति रुद्र एकादश माने गये हैं। इनके नाम हैं- अजैकपात्, अहिर्बुध्न्य, विरूपाक्ष, त्वष्टा, रैवत, हर, बहुरूप, त्र्यम्बक, सावित्र, जयन्त एवं पिनाकी। ये ही कालान्तर में सजीवोत्पत्ति होने पर प्राणियों में एकादश इन्द्रियों के रूप में अभिव्यक्त होते हैं। जब सूर्य का आविर्भाव होता है, तो ये वसु एवं रुद्र आदित्यों के साथ ही सूर्य में प्रतिष्ठा प्राप्त कर लेते हैं।

(16) सूर्य ग्रह नक्षत्र एवं तारा इत्यादि का प्रादुर्भाव

द्यौ में विद्यमान द्वादश आदित्य, आठ वसु, एकादश रुद्र जब महर्लोक में सम्पन्न प्राकृत यज्ञ से निष्पन्न सहस्र रश्मियों से युगपत् संसर्ग करते हैं, तो सूर्य का प्रादुर्भाव होता है। आदित्यों की प्रधानता के कारण 'प्राधान्येन तद्वादस्तद्वादः' न्याय से सूर्य को आदित्य भी कहा गया है। यह सूर्य इन्द्र से ऐन्द्रिक शक्तियों को, धाता से आकृति को, भग से लावण्य (तेजस्विता) को, पूषा से बल को, मित्र से प्राणशक्ति को, वरुण से प्रकाश को, अर्यमा से गति को, अर्चि से दाहकता को, विवस्वान् से नियन्त्रणशक्ति को, पर्जन्य से आकर्षण को, त्वष्टा से बाह्यमण्डल को, विष्णु से व्यापकत्व को तथा प्रजापति से प्रजननशक्ति को अर्जित कर स्वयं सर्वशक्तिसम्पन्न बन जाता है। इसी क्रम में कालान्तर में वसुओं से वृद्धिकारकत्व को तथा रुद्रों से संहारकत्व को भी प्राप्त कर लेता है। इस सूर्य के आविर्भूत होते ही तमस् का समूल विनाश हो जाता है। सूर्य के पश्चात् क्रमशः बृहस्पति, शनि, चन्द्र, बुध, शुक्र एवं मंगल की उत्पत्ति होती है। नक्षत्र एवं ताराओं का आविर्भाव सूर्य की उत्पत्ति के साथ ही आरंभ हो जाता है। ताराओं में जो स्थिर हो जाते हैं, वे नक्षत्र कहलाते हैं। ये नक्षत्र भी ग्रहों की भाँति ही सूर्यरश्मियों को ग्रहण करने लगते हैं।

(17) पर्वतों नदियों एव वनस्पति का आविर्भाव

खगोल की परिपूर्णता के अनन्तर भूगोल अस्तित्व में आता है। सविता से आने वाली कुमुद नामक रश्मियाँ काश्य रश्मियों से मिल कर भूतसृष्टिबीजों से संपर्क करती है, जिससे द्यौ में रजः कणों की उत्पत्ति होती है। आग्नेय वाष्प के प्रभाव से ये रजः कण अत्यन्त उष्ण होते हैं, किन्तु सोम के प्रभाव से समशीतोण हो जाते हैं। सुद्युम्न नामक रश्मियों के प्रभाव से इन रजः कणों का क्षरण सर्वप्रथम ध्रुवीय भागों पर होता है, जिससे महापर्वतों का निर्माण होता है। कालान्तर में रज कणों की बढती मात्रा के कारण इनकी श्रृंखलायें बनती हैं। पर्जन्य के अस्तित्व में आने के पश्चात् वृष्टि के परिणामस्वरूप पर्वतों से ही जलीय प्रवाह द्वारा नदियों का आविर्भाव होता है। वृष्टि से ही वनस्पति अस्तित्व में आती है, वनों का पर्याप्त विस्तार होता है। पर्वतों के आविर्भाव के समय ही उष्ण रजःकणों में विविध रश्मियों के प्रभावस्वरूप धातुओं की संरचना भी इसी अवस्था में सम्भव होती है। इस प्रकार बाह्यप्रकृति का सौम्य एवं रमणीय स्वारूप उपस्थित होता है।

(18) जीवोत्पत्ति

जीवोत्पत्ति ब्रह्माण्ड की परिपूर्णता को दर्शाती है। ब्रह्माण्ड की रचनाप्रक्रिया की यह अन्तिम कड़ी है। जिस प्रकार पृथ्वी में अज्ञात रूप से पहले से विद्यमान बीजों के कारण वर्षा होने पर स्वतः छः प्रकार की वनस्पति उत्पन्न हो जाती है, ठीक वैसे ही पूर्वसृष्टि के जीवों के अवशिष्ट वासनामय संस्कारों के परिणमन से ही सजीवों की भी उत्पत्ति होने लगती है। सजीवो में सर्वप्रथम स्वेदज उत्पन्न होते हैं, तत्पश्चात् अण्डज उत्पन्न होते हैं, तत्पश्चात् जरायुज उत्पन्न होते हैं।

मनुष्य की उत्पत्ति जरायुजों में सबसे अन्त में होती है। इनमें भी सर्वप्रथम केवल प्राणमय कोश वाले, तत्पश्चात् प्राणमय एवं मनोमय कोश वाले, तत्पश्चात् प्राणमय मनोमय एवं विज्ञानमय कोश वाले तथा उनके पश्चात् प्राणमय, मनोमय विज्ञानमय एवं अन्नमय कोश वाले जन्तु उत्पन्न होते हैं। जीवोत्पत्ति में भी सूर्यादि ग्रहों, नक्षत्रों एवं ताराओं की रश्मियों का पर्याप्त योगदान होता है। मानवोत्पत्ति की प्रक्रिया इस जीवोत्पत्ति की प्रक्रिया से भिन्न है। यह देवप्राण ऋषिप्राण एवं पितृप्राण के युगपद्भाव के परिणमन से सम्भव होती है तथा उत्पत्ति के साथ ही मानव भी अन्य सजीवों की भाँति सूर्यादि ग्रहों नक्षत्रों एवं ताराओं की रश्मियों के प्रभाव से प्रभावित होता है।

इस प्रकार उपर्युक्त अठारह अवस्थाओं के क्रमशः सम्पन्न होने पर हमारा ब्रह्माण्ड अस्तित्व में आता है। यद्यपि द्यावापृथिवी के मध्य अनेकानेक प्रक्रियाएँ सम्पन्न होती रहती हैं, किन्तु वे केवल त्रैलोक्य की सक्रियता के निमित्त ही होती हैं। त्रैलोक्य के अतिरिक्त अन्य लोकों में उनकी स्वाभाविक क्रियाएँ यथापूर्व उपक्रमित होती हैं। यह ब्रह्माण्ड कल्पादि में आविर्भूत होता है तथा कल्पान्त में पुनः अवसान अर्थात् महाप्रलयावस्था में निमग्न हो जाता है। महा प्रलयावस्था का प्रारम्भ त्रैलोक्य के कमिक विकास से प्रारम्भ होता है और अन्त में सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड पुनः स्वयम्भू ब्रह्म में सूक्ष्म रूप से विलीन हो जाता है। महाप्रलय में उसे संस्कारवश पुनः उत्पत्ति की अपेक्षा बनी रहती है। यही इच्छाशक्ति है, जो स्वयम्भू में संक्रान्त होकर तन्निहित ज्ञानशक्ति के सहारे क्रियान्वयन की ओर बढ़ती है तथा क्रियाशक्ति के माध्यम से फिर से ब्रह्माण्ड को आविर्भूत करती है।

अन्नं वै ब्रह्म

गोपीनाथ पारीक 'गोपेश'
अध्यक्ष, राजस्थान आयुर्वेद विज्ञान परिषद्

'ब्रह्मादेरपि च लोकस्याहारः स्थित्युत्पत्तिविनाशहेतुः' (सू.46) सुश्रुतोक्त इस वाक्य से अन्न को ब्रह्म के समकक्ष माना गया है। यह भी प्राणरक्षा का आधार होने से किसी ब्रह्मानन्दसहोदर से कम नहीं है - 'अन्नं वृत्तिकराणां श्रेष्ठम्' - 'वृत्तिकराणामिति शरीरस्थितिकराणाम्' (च.सू.25) ब्रह्मत्वप्राप्ति के लिये जिस प्रकार यम-नियम, जप-तप आदि से गुजरना पड़ता है, उसी प्रकार भोजन के शास्त्रोक्त गुणों को प्राप्त करने के लिये भी कई नियमों का पालन करने का विधान है। इन नियमों की परिपालना से ही वस्तुतः सेवन किया गया आहार तृप्तिकारक, सद्योबलप्रद, देहधारक तथा आयु, तेज, उत्साह, स्मृति और शरीरस्थ अग्नि का वर्धक होता है। इन नियमों को विस्तार से जानने के लिये चरकसंहिता विमानस्थान का द्वितीय अध्याय, सुश्रुतसंहिता सूत्र स्थान का 46 वाँ अध्याय तथा अष्टांग हृदय सूर्यस्थान का 8 वाँ अध्याय मननपूर्वक पढ़ना चाहिये।

आयुर्वेद एक आस्तिक दर्शन होने के साथ ही जीवनविज्ञान भी है। यहाँ रुग्ण की चिकित्सा करने का प्रयोजन तो है ही, उससे भी अधिक स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य की रक्षा करना है। यह केवल व्यक्ति के शरीर से ही सम्बन्ध नहीं रखता, अपितु व्यक्ति की आत्मा, मन एवं इहलोक-परलोक से भी सम्बन्ध रखता है। यही परम्परा आहार के सम्बन्ध में भी व्यक्त की गयी है।

डॉ. श्री अनन्तराम शर्मा, हरिद्वारा का कथन पूर्णतया ध्यान देने योग्य है - 'आयुर्वेदज्ञों ने भोजन एवं भोज्य पदार्थों को लेकर जो वर्णन किया है, वह अपने में ही एक उदाहरण है। जहाँ जब जो कुछ मिला उसे उठते-बैठते, चलते-फिरते, बोलते-टी वी खोलते अन्न को खा लेने की आज की प्रथा के बिलकुल विपरीत निर्देशित है कि आयुर्वेद कृत्य है, एक अनिवार्यता है और सबसे अधिक एक उत्कृष्ट कर्त्तव्य है, जिसे नितान्त गम्भीरता एवं मननपूर्वक सम्पन्न करने के लिये पद पद पर सावधान किया गया है, निर्देशित किया गया है'।

आचार्य चरक बड़ी आत्मीयता से संयत होकर समझाते हैं (च.वि. 10) -

1. सदैव ताजा गर्म भोजन कीजिये, क्योंकि यह स्वादिष्ट लगता है, जठराग्नि को प्रदीप्त करता है, शीघ्र हजम होता है, यह वातानुलोमन होता है और श्लेष्मसंघात को छिन्न-भिन्न करता है।

2. स्नेहयुक्त आहार कीजिये, क्योंकि यह स्वादिष्ट होता है, इन्द्रियों को दृढ़ करता है, शरीर को पूरा पोषण मिलता है और बल की वृद्धि होती है।

3. भुक्त अन्न (पूर्व में खाया हुआ) के जीर्ण होने पर ही भोजन कीजिये, क्योंकि यह दोषों को प्रकुपित नहीं करता, ऐसी अवस्था में बुभुक्षा जागृत होती है, शुद्ध उद्गार आते हैं, हृदय विशुद्ध होता है, वात का अनुलोमन होता है, मल मूत्रादि की सम्यक् प्रवृत्ति होती है एवं शरीर के सर्वधातुओं का पोषण होता है।

4. अविरुद्धवीर्य आहार कीजिये, क्योंकि इससे कुष्ठ, आमवात आदि विकार नहीं होते।

5. अपने इच्छित स्थान पर ही भोजन कीजिये, इससे मनोविघात नहीं होता।

6. न जल्दी जल्दी भोजन करें और न ही अधिक धीरे धीरे भोजन करें। क्योंकि धीरे या जल्दी भोजन करने से पाचन में विकृति होने की संभावना बढ़ जाती है।

7. न हँसते हुए और न अधिक वार्तालाप करते हुये ही भोजन करें। इससे किसी प्रकार की हानि हो सकती है, जो घातक रूप भी ले सकती है।

8. मेरे लिये कौन सी वस्तु लाभदायक है और कौन सी हानिकारक है - इस पर भलीभाँति चिन्तन कर भोजन करने वाला रोगों से बचा रहता है।

9. कोई भी कार्य हो, उसमें सफलता तब ही मिलती है, जब उसे तल्लीनता से किया जाये। भोजन के सम्बन्ध में भी इस नियम को पालन करने हेतु कहा गया है।

10. जिस प्रकार देवार्चन में स्थानशुद्धि तथा कायिक-वाचिक मानसिक शुद्धि (पवित्रता) आवश्यक होती है, उसी प्रकार शुचिता-पवित्रता भोजन के सम्बन्ध में भी वर्णित की गयी है।

मम्मट अपने काव्यप्रकाश में साहित्य गुण गरिमा गाने के अन्तर्गत इसे 'कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे' कहते हैं परन्तु भोजन से सम्बन्धित ये आयुर्वेदीय उपदेश तो इससे भी बढ़कर हैं। इनसे यह प्रमाणित होता है कि मनुष्य के शरीर में आहार का वही स्थान है, जो सृष्टि में ब्रह्मा का है।

यह आहार हित (संतुलित) हो, मित हो एवं सुमनस्कता युक्त हो। इसी हेतु आचार्य भावमिश्र अशनवेला में मंगलदर्शन का आदेश देते हैं। मन की प्रसन्नता बनाये रखने के लिये धर्मशास्त्र भी 'अशनपूजन' का परामर्श देते हैं। मनुस्मृति अध्याय दो में मनु महाराज 'पूजयेदशनं नित्यम्' के अनुसार कहते हैं-भोजन चाहे जैसा भी हो, सदैव ही

उसकी पूजा करनी चाहिये। भोजन को पूज्य दृष्टि से देखने पर भोजन करने वाले की बुद्धि तीव्र होती है और उसका बल बढ़ता है। भूल कर भी भोजन का अनादर नहीं करना चाहिये। उसका अनादर ब्रह्म का अनादर होता है। उसे 'कृष्णार्पण' कर सेवन करने से भोजन से प्राप्त होने वाले समस्त अभीष्ट लाभों की प्राप्ति होती है। हमें अपने भोजन में ऐसे खाद्य पदार्थों का चयन करना चाहिये, जो शुद्ध सात्विक होने के साथ हमारी ऊर्जा की आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाये तथा शरीर के लिये उपयोगी किसी पोषक तत्त्व का अभाव न हो।

भोजन से सम्बन्धित एक बात और है, जिस पर मतिमान् लोग विशेष जोर देते हैं, वह है 'आहारशुद्धौ सत्त्व शुद्धिः'। छान्दोग्यापनिषद् में मन को सौम्य तथा अन्नमय कहा है - 'अन्नमशितं त्रिधा विधीयते तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत् पुरीषं भवति, यो मध्यमस्तन्मांसम्, योऽणिष्ठस्तन्मनः'।

उद्दालक और श्वेतकेतु से इस विषय का निश्चय एक परीक्षण द्वारा कराया गया। उनको कुछ दिन भूखा रखा गया। इस स्थिति में उन्होंने जो वेदवेदांग पढ़े, वे कंठाग्र न रह सके। जब उन्हें भोजन दिया गया तो वे पुनः स्मरण हो आये। इससे मन की घटती - बढ़ती कलाओं के बारे में भी निश्चय होता है। लोक में भी यह उक्तिअति प्रसिद्ध है - 'जैसा खावे अन्न वैसा होवे मन'। गीता में भी भगवान् श्रीकृष्ण ने सत्रहवें अध्याय में सात्त्विक, राजस एवं तामस आहार का वर्णन कर इसकी उत्तम, मध्यम एवं अधम श्रेणियाँ व्यक्त की हैं।

शाकाहार – जब हम अन्न को ब्रह्मरूप पूजनीय समझ कर उसकी शुचिता-शुद्धता पर बल देते हैं, तो माँसाहार को आहार की श्रेणी में कैसे रख सकते हैं? आचार्य चरक कहते हैं-'अहिंसा प्राणवर्धनानां श्रेष्ठतमा' तो फिर बिना हिंसा के माँसाहार पाया नहीं जाता, अतः हमें समझना होगा कि शाकाहार ही हमारा एकमात्र स्वाभाविक आहार है। हिंसा रहित शाकाहार से सात्विक भावों का उदय होता है, जो शारीरिक-मानसिक स्वास्थ्य की निधि कहे जाते हैं। वैज्ञानिक अन्वेषणों से प्राप्त जानकारी के आधार पर उत्तम एवं स्थायी स्वास्थ्य हेतु शाकाहार की ही प्रधानता तथा श्रेष्ठता है। शाकाहार में तन्तुओं की अधिकता के कारण पाचन ठीक प्रकार से होता है। आँतों की गतिशीलता ठीक बनी रहती है, जिसके कारण अकाल मृत्यु देने वाले घातक रोगों से बचा जा सकता है। पथ्यविज्ञानाचार्य उग्रादित्य कहते हैं, कि माँसभक्षी प्राणियों में धातुपोषण सही नहीं होता है। इसी कारण माँस खाने वाले प्राणियों के दूध, मूत्र आदि औषध के रूप में प्रयुक्त नहीं होते।

कई चिकित्सक शरीर में प्रोटीन की वृद्धि हेतु माँसभक्षण का परामर्श देते हैं, परन्तु वे भूल जाते हैं कि सोयाबीन, दूध, मूँगफली आदि में पर्याप्त प्रोटीन होता है। फिर भी जो चिकित्सक अपनी चिकित्सा में माँसाहार की सम्मति देते हैं, उनके लिये महाकवि दिनकर की यह उक्ति लिखना उपयुक्त होगा-

जानता हूँ लड़ना पड़ा था हो विवश किन्तु

लोहू सनी जीन मुझे दीखती अशुद्ध है।।

'न्यूयार्क ट्रिब्यून' के भूतपूर्व सम्पादक 'हेरिस ग्रीरेले' ने अपने लम्बे अनुभव एवं प्रामाणिक अन्वेषण के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला था कि माँसाहारी की अपेक्षा शाकाहारी अधिक जी सकता है। माँसाहार में जीवनी शक्ति बढ़ाने की क्षमता नहीं होती। मनु ही नहीं अपितु निरामिष पशु-पक्षी भी माँसाहारी पशु-पक्षियों की अपेक्षा अधिक दीर्घजीवी होते हैं। पशुओं में हाथी और पक्षियों में तोते सर्वाधिक दीर्घजीवी होते हैं जो शाकाहारी हैं। ये अन्य जीवों की अपेक्षा बुद्धिमान् भी अधिक होते हैं। मनुष्यों में शाकाहारी व्यक्ति बुद्धिसामर्थ्य और शरीर सम्बल में माँसाहारियों से किसी प्रकार कम नहीं होते, जैसा कि महात्मा गाँधी और बनर्ड शॉ के जीवन से प्रकट होता था। पाश्चात्यों में भी ऐसे कई प्रसिद्धिप्राप्त मनुष्य हुए हैं, जो शाकाहारी थे। उनमें कुछ हैं - कनफ्युसियस, जोरास्टर, मूसा, ईसा, सुकरात, प्लेटो, होमर, न्यूटन, सन्तफ्रान्सिस, फ्रेंकलिन, शैली, दाँते, टालस्टाय, नित्से, एडिसन आदि।

माँस प्राकृतिक भोजन नहीं है। बलकरत्व, पोषकत्व, रुचिकरत्व गुण भी माँस में नहीं है, क्योंकि अन्य द्रव्यों के संस्कार से, उनके मिश्रण से ही ये गुण उसमें मान लिये जाते हैं। माँस अभ्यास से सात्म्यरूप में शरीर के अनुकूल किया जाते हैं, जो कालान्तर में अहितकर ही होता है। माँस के चयापचय में यकृत् एवं वृक्कों को अधिक कार्य करना पड़ता है, जिससे वृक्करोग, रक्तचापवृद्धि, कैन्सर, मधुमेह, मेदोरोग जैसे रोग उत्पन्न होने की संभावना बढ़ जाती है।

आज पर्यावरण को सुधारने के लिये जब पेड़-पौधों को लगाने एवं उन्हें बचाने की बात आती है, तो उनकी सहानुभूतिपूर्वक सुरक्षा के लिये मनुष्य का दर्यार्द्र होना आवश्यक है। मेरा मानना है कि जो मनुष्य माँसाहारी नहीं होता, वह ऐसे कार्यों में अधिक प्रवृत्त हो सकता है। जो व्यक्ति अपनी जिह्वालोलुपता के वशीभूत होकर जीव-जन्तुओं पर परोक्ष-अपरोक्ष रूप से क्रूरता बरसाता है, वह इन पेड़-पौधों को स्नेह कैसे दे सकता है? वह पर्यावरण सुधार का सहभागी कैसे बन सकता है? तब ही तो शाकाहार के प्रबल पोषक एवं माँसाहार के घोर विरोधी विद्वद्वर श्री चंचलमल चोरडिया पुनः पुनः यही डिंडिमघोष करते सुनायी देते हैं - 'माँसाहार करने वाला मनुष्य क्रूर, हृदयहीन और हिंसक बन जाता है। उस मनुष्य में असहनशीलता, चिड़चिड़ापन एवं वासनायें बढ़ने लगती है। उसमें श्रम करने की इच्छा नहीं होती। उसका शरीर रोगों की ओर जल्दी आकृष्ट होता है। उसकी हड्डियाँ कमजोर हो जाती हैं। माँसाहारी व्यक्ति को चिन्तन करना होगा कि वह माँसाहार कर रहा है या माँसाहार हमारी संस्कृति और सभ्यता को निगल रहा है? हमें स्वीकार करना होगा कि माँसाहार करना सामाजिक अपराध है। यह प्रकृति के विरुद्ध है। यह मनुष्य का आहार कदापि नहीं हो सकता है।'

राष्ट्रोपनिषत्-प्रस्तावना-शतकम्

संस्कृत-रूपान्तरण-कर्त्ता
आचार्य डॉ. नारायणशास्त्री काङ्कर विद्यालङ्कार
(महामहिम-राष्ट्रपति-सम्मानित)

हिन्दी-रूपान्तरण-कर्त्ता
सौ. श्रीमती इन्दु शर्मा
एम.ए., शिक्षाचार्या

अंग्रेजी-रूपान्तरण-कर्त्ता
महामण्डलेश्वर स्वामी श्री ज्ञानेश्वरपुरीजी महाराज
विश्वगुरुदीप आश्रम शोध संस्थान, जयपुर

(गताङ्कादग्रे) **बाबुरेव सर्वमद्य, प्रशास्ति सर्वत्रैक एवाद्वितीयः ।**
स एव ब्रह्मा विष्णु, रथ महेशः स्वस्व - कार्य-करणे पुनः ॥43॥

बाबु ही आज सर्वत्र सब पर प्रशासन कर रहा है और वह ही अपना अपना कार्य करने में ब्रह्मा, विष्णु और महेश है।

The bureaucrat is today ruling over all, and he is Brahma, Vishnu and Mahesh in his work.

पत्रावल्यां तु तस्य, टिप्पणीं विना राष्ट्रपतिरपि स्वकर्म ।
कर्त्तुं नैव क्षमते, तदिदं कस्य न सुविदिमस्ति गुरुदेव ! ॥44॥

पत्रावली पर तो उस बाबु की टिप्पणी के बिना राष्ट्रपति जी भी अपना कार्य करने में समर्थ नहीं हैं, हे गुरुदेव ! यह बात किसको सुविदित नहीं है ?

Without the comment on the cover even the president is not capable of doing his work. Oh, Gurudev, who is not familiar with this wrangling?

जनयति समस्यामसौ, तत्समाधानमपि च स एव करोति ।
स्वाभीष्ट - सिसाधयिषुस् - तमेवोपास्ते सदा सर्वथैव ॥45॥

वह बाबु समस्या पैदा करता है और उसका समाधान भी वही करता है । अपने अभीष्ट को साधने की इच्छा रखने वाला व्यक्ति सदा सभी प्रकार से उस बाबु की उपासना किया करता है।

The clerk is creating a problem but is not solving it. The person who wants to have his work done has to please/worship this clerk.

पूर्वज-बलि-प्रदानात् तु, समवाप्ता मुक्तिर्विदेशिप्रशासनात् ।
स्वराष्ट्र - स्वाधीनता - , सुरक्षा किं सैनिकानामेव कर्म ? ॥46॥

हमारे पूर्वजों के द्वारा किए गये अपने बलिदान से विदेशी प्रशासन से मुक्ति मिल गई क्या अब अपने राष्ट्र की स्वाधीनता की सुरक्षा करना केवल सैनिकों का ही कार्य हैं ?

Through the sacrifices of our ancestors, we got free from the foreign rulers. Is it now the duty only of the soldiers to protect the freedom of the county?

यत्रैते सैनिकाः स्व,-सुख-सुविधास्त्यक्त्वा राष्ट्रं सुरक्षन्ति ।
तत्र हन्तः ! नेतारो, मिथो हि निन्दन्त आनन्दमाप्नुवन्ति ॥47॥

जहाँ ये सैनिक अपनी सुख-सुविधाओं को त्याग कर राष्ट्र की सुरक्षा करते हैं, दुःख है, वहीं नेता लोग परस्पर एक दूसरे की निन्दा करते हुए आनन्द प्राप्त करते हैं।

It is sad that where soldiers renounce their happiness and comfort to protect the country, politicians get joy by condemning each other.

ये भ्रष्टमाचरन्तो, राष्ट्रं हानिं प्रापयन्ति दुष्ट - जनाः ।
किं न तान् विनिगृह्य नः, प्रशासनं कठोरतमं दण्डयतेऽद्य ? ॥48॥

जो दुष्ट लोग भ्रष्टाचार करते हुए राष्ट्र को हानि पहुँचा रहे हैं, उनको पकड़कर हमारा प्रशासन क्यों नहीं आज उनको कठोर से कठोर दण्ड देता है ?

Why today the administration does not catch the people who through the corruption harm the country and give them the hardest of the hardest punishment?

पुनश्च ये स्वराष्ट्रस्य गोपनीय - तथ्यानि शत्रवेऽर्पयन्ति ।
किं नहि ते स्वराष्ट्रतो, यमलोकाय प्रस्थाप्यन्ते विनिगृह्य ? ॥49॥

और फिर जो अपने राष्ट्र के गोपनीय तथ्यों को शत्रु को अर्पित करते रहते हैं, क्यों नहीं उनको पकड़कर अपने राष्ट्र से यमलोक को रवाना कर दिया जाता ?

And why are those who sell the secrets of the country to the enemies are not caught and dispatched to the Yama Loka?

(क्रमशः)

ISSN : 2582-6360

प्रकाशक : विश्वगुरुदीप आश्रम शोध संस्थान – कीर्ति नगर, श्याम नगर, सोढाला, जयपुर

Website : vgda.in **Youtube :** www.youtube.com/c/vishwagurudeepashram **E-mail :** jaipur@yogaindailylife.org